हिन्दी

शीराज़ा

जे. एण्ड के. अकादमी ऑफ़ आर्ट कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : २१ दिसम्बर ८५-जनवरी १९८६ अंक : ५

आपकी बात

* अंक बहुत अच्छा निकला है। बधाई। अली सरदार जाफरी से हुई बातचीत का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होता तो अधिक उपयोगी होता।

—**रामावतार चेतन**

८१-सुनीता, १५वां माला, कफ परेड, बम्बई

* शीराज़ा का साहित्यिक व्यक्तित्व दिनोंदिन निखरता जा रहा है। 'साक्षात्कार अंक' इसका प्रमाण है। समूचा अंक दुर्लभ व महत्त्वपूर्ण सामग्री से ओतप्रोत है।

डॉ० महीउद्दीन हाजिनी से डॉ० शान्त की बातचीत अगरचे प्रारम्भ में एकदम पर्सनलाइज़्ड हो गई है किन्तु बाद में यह बातचीत कश्मीरी भाषा तथा साहित्य के प्रेमियों व शुभ-चिन्तकों के लिए कुछ सोचने को ढेर सारा मसाला छोड़ जाती है। शान्त जी की प्रश्नात्मक शैली की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता।

—**डा० शिबन कृष्ण रैणा**

शारिका भवन, २/५३७ अरावली विहार, अलवर-३०१००१

* मैंने सभी सात साक्षात्कार रुचिपूर्वक पढ़े हैं। मुझे अज्ञेय जी से रमेश चन्द्र शाह की बातचीत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लगी यद्यपि बातचीत में किसी विषय की एकाग्रता की कमी अनुभव हुई। जैनेन्द्र जी मुझे उलझे हुए लगे। हो सकता है यह मेरी समझ की सीमा है। बच्चन जी का साक्षात्कार भी पठनीय है। भीष्मजी (साहनी) की बातचीत में उनका उदार चिन्तन तथा स्वभाव सहज प्रकट है। प्रगतिशीलता के सन्दर्भ में उन्होंने मानवीयता पर जो बल दिया है वह सही दिशा में है।

अली सरदार जाफरी से बातचीत में बहुत से उर्दू शब्दों के हिन्दी पर्यायों की ज़रूरत अनुभव हुई। हिन्दी शीराज़ा में कुछ हिन्दीकरण ज़रूरी था। सामान्य हिन्दी पाठक को तब जाफरी साहब के विचार अधिक समझ में आते। मैं सोचता हूं कि हिन्दी का सामान्य पाठक

श्री रामनाथ शास्त्री और गुलाम मोहीउद्दीन से विशेष परिचित नहीं है। साक्षात्कार के आरम्भ में यदि उनका संक्षिप्त परिचय प्रकाशित कर दिया जाता तो मेरे जैसे पाठक साक्षात्कार को अधिक रुचि से पढ़ते। यद्यपि साक्षात्कारों से उनके कृतित्व का परिचय भी मिलता है।

शीराज़ा का साक्षात्कार अंक पठनीय तो है ही, महत्त्वपूर्ण भी है। अंक के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

—जुगमंदिर तायल

फ्रेण्डस कालोनी, अलवर-३०१००१

* शीराज़ा के नए अंक में 'दिन एक नदी बन गया' पर प्रकाशित मेरी समीक्षा पर कवि डॉ० रामदरश मिश्र की आक्रोशपूर्ण प्रतिक्रिया देखी। कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० मिश्र हिन्दी के सुपरिचित कथाकार, उपन्यासकार एवं आलोचक ही नहीं कवि भी हैं। उनके सद्यः प्रकाशित कविता संग्रह 'दिन एक नदी बन गया' की समीक्षा लिखने का मेरा उद्देश्य उनके कवि के कद को छोटा करना निश्चित ही नहीं था; न मैं अपने को उनको लेकर किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित ही पाता हूं। मैंने समीक्षा में डॉ० मिश्र की कविता के प्रति अपनी रुचि ही नहीं लगाव का भी परिचय दिया है। अन्यथा उनके इस सद्यः प्रकाशित संकलन में संग्रहीत और आलोचना में पूर्व प्रकाशित 'लोकराम' कविता का उल्लेख प्रासंगिक नहीं होता। चूंकि डॉ० मिश्र ने अपनी प्रतिक्रिया में मेरी सीमित समझदारी एवं ईमानदारी का उल्लेख किया है इसलिए मेरी नज़र में उनकी प्रतिक्रिया में विवाद के मुद्दे कम ही हैं। डॉ० नामवर सिंह के 'आलोचना' के सम्पादन से अलग होने के बाद 'लोकराम' कविता के प्रकाशन का उल्लेख करना न तो डॉ० मिश्र के महत्त्व को कम करना था न ही उनके काव्य व्यक्तित्व को धूमिल करना। उनकी कविताएं मैं एक अर्से से पढ़ता रहा हूं। और अब इस संग्रह में कुछ पूर्व प्रकाशित कविताएं भी संकलित हैं इसीलिए उस प्रसंग का उल्लेख मैंने किया। मेरी दृष्टि में यह एक साहित्येतिहासिक अनिवार्यता थी। मिश्र जी ने मुझ पर एक समीक्षक के नाते जो आरोप लगाए हैं मैं अपने को उन आरोपों से मुक्त पाता हूं। हिन्दी आलोचना समीक्षा की जो आज हालत है उसमें आरोप-प्रत्यारोप मुझे सहज स्वाभाविक लगते हैं। सच कहने का जोखिम आज बहुत कम समीक्षक उठा पाते हैं और सच बर्दाश्त करने का साहस तो विरले कवियों में है फिर भी मेरी समीक्षा से यदि मिश्र जी आहत हुए हैं तो इसके लिए मैं दुखी हूं।

—भारत भारद्वाज

सीकॉप बिल्डिंग, डोडा शहर (ज० क०)

* प्रो० रामनाथ शास्त्री डोगरी साहित्य के संवर्द्धन के आन्दोलन के साथ डोगरी संस्था की स्थापना से भी पहले से जुड़े हुए साहित्यकारों का उल्लेख करते हुए कुछ का अपनी चर्चा में कहीं भी उल्लेख न करके पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते हैं। ये साहित्यकार हैं—"हरदत शास्त्री, (कवि) किशन स्मैलपुरी (कवि), विश्वानाथ खजूरिया (नाटककार : अछूत-रचना-१९३५) परमान्द अलमस्त, श्री रघुनाथ सिंह सम्याल। इनके अतिरिक्त १९४७ के बाद के प्रारम्भिक वर्षों से डोगरी आन्दोलन के साथ जुड़ने वाले यश शर्मा (कवि) प्रो० लक्ष्मी नारायण (हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्धकर्ता) भी उनकी चर्चा में छूट गए हैं। आवरण भी कलापूर्ण तथा आकर्षक है।

—डॉ० सत्यपाल शास्त्री

१५७, मल्होत्रा स्ट्रीट, जम्मू तवी

(शेष पृष्ठ ९४ पर)

लेख

समकालीन कविता में बदलते राग-संबंध

□ अजित कुमार

यह एक ऐसा विषय है जिसमें सहमति की जितनी संभावना हो सकती है उतनी ही गुंजाइश मतभेद की बल्कि ग़लतफ़हमी की भी है।

एक ओर तो यह विचार है कि संसार में सभी कुछ परिवर्तनशील है, इसलिए रागात्मक संबंधों में भी परिवर्तन होगा और उनका चित्रण करने वाली कविता में भी यह बदलाव ज़रूर झलकेगा।

लेकिन दूसरी ओर यह विचार भी है कि मनुष्य के मूलभूत संवेग और मनोभाव आदिम युग से लेकर अब तक जैसे के तैसे बने हुए हैं—उनमें न कोई परिवर्तन कभी हुआ है, न भविष्य में होने की संभावना है क्योंकि मानव-स्वभाव की जड़ें इतनी गहरी हैं कि ऊपरी झोंकों-झकोरों का उन पर कोई असर नहीं पड़ता।

इन दोनों ध्रुवात्मक अवधारणाओं के बीच कई तरह की स्थितियां मिलेंगी, जैसे यह कि मानव-प्रकृति भले न बदले, उसकी अभिव्यक्ति के रूप और विन्यास बदल जाते हैं। या यह कि भीतर से जब कुछ बदल चुकता है, तभी उसकी झलक सतह पर हमें नज़र आती है। या फिर यह कि दोनों के बीच एक तरह का अस्थिर और द्वन्द्वात्मक संबंध होता है: 'कुछ भी नहीं बदला'—यह कहने-सोचने के बावजूद, मनुष्य जहां परिवर्तन को रोकने-थामने के यत्न में लगा रहता है, वहीं भीतर-भीतर उसमें उथल-पुथल चलती रहती है। दूसरी ओर, 'सब कुछ बदल गया'—कह-सोचकर मनुष्य जहां अपने अतीत से छुटकारा पाना चाहता है, वहां उसका आदिम चरित्र उसके साथ चिपका-चिपटा रहता है।

ये सभी, बल्कि इनसे जुड़े और भी तमाम रुख-रवैये हमारी कविता में शुरू से नज़र आते हैं -'अहे, निष्ठुर परिवर्तन' से लेकर 'जग बदलेगा, किन्तु न जीवन', और 'सब कुछ तो बदल गया पर मुख का भाव नहीं बदला' तक इनकी परिधि बहुत विस्तृत है। इनके बारे में सिर्फ़ यही बात थोड़े निश्चय के साथ कही जा सकती है कि इनमें प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक जैसे अन्तर कर पाना बेहद मुश्किल होगा। 'सूली ऊपर सेज पिया की, केहि विधि मिलनो होय' —इस तड़प को हम किसी युग विशेष में सीमित नहीं कर सकते। मध्ययुगीन तुलसीदास के

पौराणिक राम व्याकुल होकर पूछते फिरते हैं—

"हे खग, मृग, हे मधुकर श्रेनी !
तुम देखी सीता मृग नैनी ?"

यह आवेग लगभग वैसा ही है, जैसे आधुनिक कवि निराला का अपनी 'प्रिया' के प्रति—

"कितने वर्षों में, कितने चरणों में तू उठ खड़ी हुई
कितने बन्दों में, कितने छन्दों में तेरी लड़ी गई,
कितने ग्रन्थों में, कितने पन्थों में देखी, पढ़ी गई,
तेरी अनुपम गाथा
मैंने वन में, अपने मन में
जिसे कभी गाया था।"

सचमुच ही, राग-संबंधों की इस 'अनुपम गाथा' का निरूपण इकहरे तौर पर नहीं किया जा सकता। इसलिए, 'समकालीन कविता में बदलते राग-संबंध' को 'चिरकालीन कविता में शाश्वत राग-संबंध' की अनिवार्य कड़ी समझने पर ही निराला के 'वन' और 'मन' की वह एकतानता स्पष्ट होगी, जिसकी परिणति है —

"तेरे सहज रूप से रंग कर
झरे गान के मेरे निर्झर
भरे अखिल सर
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार।"

इन पंक्तियों के केवल एक ही संकेत की ओर ध्यान आकर्षित करना यहां प्रासंगिक होगा कि रचना में चित्रित राग-संबंधों द्वारा वह सेतु निर्मित होता है, जो व्यक्ति को व्यक्ति से ही नहीं, पूरे समाज और संसार के साथ संयुक्त करता है।

रहा सवाल यह कि वह सेतु एक भावुक कवि के शब्दों में 'बांस का पुल' है या किसी बुद्धिवादी कवि की शब्दावली में 'लोहे और कांक्रीट का ख़ौफ़नाक जंगल'? इसका जवाब मेरे पास तो यही है कि 'सेतु' जब तक सेतु है, तब तक वह इन दोनों में से कोई भी हो सकता है, बल्कि इनके अलावा सड़क, आकाश, पेड़, चांदनी आदि सभी कुछ, जैसाकि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कहते भी हैं—

"धन्य है तुम्हारा प्यार !
एक पीला सागर,
मौन, निश्चल, अलौकिक, अपार !
जिसमें मैं,
एक भूरी किश्ती-सा डूब रहा हूं।"

ठीक इसी तरह, राग-संबंधों को हम केवल प्रेमानुभूति या नर-नारी संबंधों के दायरे तक ही सीमित नहीं रख सकते। पारंपरिक दृष्टि से, भक्ति के सख्य, दास्य, वात्सल्य आदि विविध रूपों में राग-संबंधों का ही ऐश्वर्य दिखाई देता है, उसी तरह, जैसे कि आधुनिक दृष्टि से खेतिहर, मजदूर, भिक्षुक, देश आदि पर लिखी गई असंख्य कविताओं के केन्द्र में राग-बोध ही मौजूद है।

इस विचार से, "निसि दिन बरसत नैन हमारे। सदा रहत पावस रितु इन पे, जबते स्याम सिधारे" की विह्वलता और इस 'विधवा' की वेदना में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता—

"दुख-रूखे सूखे अधर त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
रोती है अस्फुट स्वर में :
दुख सुनता है आकाश धीर
निश्चल समीर
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहर कर।"

ये दोनों ही 'रुदन' हमारी रागात्मक संवेदनाओं को तरल बनाने में यदि समान रूप से समर्थ हैं तो, मेरा अनुमान है, 'चिरकालीनता' या 'समकालीनता' तथा 'राग-संबंध' या 'विराग संबंध' की चर्चा को 'मार्मिक अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति' के साथ जोड़कर देखना पड़ेगा। तब, राग-संबंधों के बदलाव की फ़िक्र से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हमारे लिए यह देखना होगा कि अभिप्रायों और व्यंजनाओं में इधर कौन-सा बदलाव आया है।

उदाहरण के लिए, समकालीन कविता की यह एक रोचक प्रकृति है कि, कभी-कभी, जहां उल्लेख प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं का हुआ है, वहां व्यंजना वैयक्तिक प्रेम की है और जहां शब्दावली प्यार की है, वहां अभिप्राय सीधा-सादा राजनीतिक अथवा सामाजिक है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ तथा कुछ अन्य उर्दू कवियों में इसकी खूबसूरत अदायगी हुई है—

"फ़ैज़ उनसे क्या बात छुपी है
हम कुछ कहकर क्यों पछतायें।"

में 'उनसे' की व्यंजना 'प्रियतम' से कुछ अधिक और भिन्न है। ठीक यही बात दुष्यन्त कुमार के इस शेर पर भी लागू होगी—

"ये ज़मीन तप रही थी, ये मकान तप रहे थे
तेरा इंतिज़ार था जो मैं इसी जगह रहा हूं।"

लेकिन बच्चन की इन पंक्तियों में 'शयनागार' सचमुच 'शयनागार' ही है, क्योंकि कवि का यही सजग मंतव्य है—

"कल सुधारूंगा हुई संसार से जो भूल
कल उठाऊंगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
आज तो कह दो कि मेरा बंद शयनागार
सुमुखि, ये अभिसार के पल, चल करें अभिसार।"

दरअसल, यह फ़र्क अलग-अलग कवियों के निजी कथ्य और शिल्प के अलावा, हमारा ध्यान इस ओर भी ले जाता है कि कोई कवि किस युग में, किस व्यवस्था में और किन लोगों के लिए रचना कर रहा है। सत्ता उसकी अभिव्यक्ति पर अंकुश लगाए, समाज उसकी प्रेमानुभूति पर संदेह करे, भाषा बिलकुल रूखी और सपाट बन गई हो, कहने के लिए कुछ भी बाकी न बचा हो…तो कविता अपने लिए कोई-न-कोई रास्ता ज़रूर निकालेगी, जो काम वह सामान्य रूप से भी निरन्तर करती ही रहती है। मसलन, केदारनाथ अग्रवाल की इस छोटी-सी कविता में 'सांप' और 'चुम्बन' हमारे चिरपरिचित 'सांप' और 'चुम्बन' नहीं हैं, यद्यपि मृत्यु और जीवन की व्यंजना वे तब भी करते हैं—

"यह जो सांप दिये के नीचे छिपा हुआ है
इसने मुझको काट लिया है

इस काटे का मन्त्र तुम्हारे चुम्बन में है,
तुम चुम्बन से मुझे जिला दो।"

हिन्दी की समकालीन कविता में वर्तमान स्थिति और सामाजिक संकल्प के बीच पनप या बदल रहे तनावपूर्ण संबंधों की ख़ासी अच्छी और बेबाक तस्वीर खींची जा रही है। उसकी दो खूबियों का सिर्फ़ ज़िक्र भर यहां किया जा सकता है। एक हमारी कविता में निजी और सार्वजनिक या व्यक्तिगत राग और सामाजिक संघर्ष के बीच घेराबन्दी कम हुई है, दूसरे कि आधुनिकतावादी दौर में कुंठा, हताशा, अनास्था, अजनबियत, संत्रास आदि का जो चलन बढ़ गया था, उसकी जगह जीवन और अनुभव के प्रति अधिक स्वाभाविक तथा प्रौढ़ प्रतिक्रिया संभव हुई है। यह आकस्मिक नहीं कि प्रेम कविताओं के अनेक संग्रह इसी बीच हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं। एक तरह की ठंडास के बाद बढ़ने वाली यह तापमयता पिछली कई ठंडकों या गर्माहिटों से कुछ अलग है और निश्चय ही यह इस दौर के कशमकश की एक उपज है। तभी तो स्नेहमयी चौधरी लिखती हैं—

"आओ, प्रेम करें।
अलग-अलग रहकर नये सिरे से
जुड़ें।"

यह एक स्वाभाविक अदायगी है, जिसे आप अपनी रुचि के अनुसार—समकालीन, बदली हुई या नई – जो भी नाम ठीक समझें, वेशक दे दें। मैं तो अनंत कुमार पाषाण की प्रेम कविताओं के ताजे संग्रह 'माल कौंस' का पहली और इसी नाम की पूरी कविता उद्धृत कर ही अपनी बात पूरी हुई जानूंगा, क्योंकि मेरे ख़याल से हर ताज़े दौर में बार-बार ऐसा ही कुछ होता है—

मालकौंस

मेरे सोने के कमरे की
खिड़की के बाहर का शिरीष
हर रात पूछता है मुझसे—
'जो बैठ कभी इस कमरे में
थी मालकौंस गाया करती,
वह कहां गयी ?'

वह करवट लेती कुछ चिड़ियें,
वह रुक-रुक कर गाती झिल्ली,
ऊपर फ़ानूस और नीचे
वह बिछा हुआ क़ालीन लाल—
तब जैसे कोई और वहां है
ऐसे स्वयं पूछता मैं —
'वह कहां गयी ?'

फ़ानूस झूलता मारुत में
नभ ज्योतित होता विद्युत में
खिड़की से कोई गुज़रता है
जाते-जाते यह कहता है—
'वह राजदूतिका थी भविष्य की,
चली गई है अपने घर !
जाने के पहले लेकिन कवि,
वह कविता के अक्षर-अक्षर
को मालकौंस की नव अदायगी
सिखा गयी।' □ (अनंत कुमार पाषाण)

निवेदन

□ प्रकाशित रचनाओं पर नियमानुसार उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

□ जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।

□ रचनाएं कागज़ के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाइप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है।

□ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।

□ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

लेख

रचना अशेषता की के कुछ संदर्भ

□ डॉ० ओम अवस्थी

अनन्तता या अशेषता (इनिग्ज़ास्टिबिलिटी) किसी सार्थक रचना की पहचान का एक विचारणीय निकष है। अशेषता का अर्थ है—निःशेष न होना, रचनात्मक सम्भावनाओं का न चुकना, एक ही पाठ या व्याख्या में स्थिर न होना, किसी एक दिक् और काल की सीमा को लांघ जाना, प्रासंगिकता को देर तक प्रमाणित करना, अपरिसमाप्य और प्रसारशील बने रहना। उदाहरण के लिए 'गोदान' लगभग पचास वर्ष पूर्व लिखा गया था, मगर अभी तक उसे कई कोणों से देखा-परखा जा रहा है। और यह नहीं कहा जा सकता कि उस पर अब बातचीत करने की और गुंजाइश नहीं है। अभिव्यक्ति की सहज सम्प्रेषणीयता के बावजूद उसमें कुछ ऐसा है जो हर विचारधारात्मक या कलात्मक कोण की अर्थबन्दी को लांघ जाता है। उसमें चित्रित ज़मींदारी व्यवस्था का स्वरूप आज बिलकुल वैसा नहीं है, फिर भी वह वर्ग-विभाजित समाज की विसंगतियों का चिरन्तन दस्तावेज़ है। वह साहित्यिक बहसों को भी उकसाता है। किसी के अनुसार वह हिन्दी का पहला आधुनिकतावादी उपन्यास है, कोई उसे विश्व की महानतम कृतियों में रखना चाहता है तो कोई उसे दूसरे दर्जे की रचना मानता है, किसी को यह कल्पना करना अच्छा लगता है कि अगर 'गोदान' खुद उसकी लेखनी से निकलता तो किस परिवर्तित रूप में ढलता, किसी को उसमें होरी की ग़ैरज़रूरी मौत पर विक्षोभ होता है तो कोई इस मौत को यथार्थ-चित्रण के ज़रूरी तकाज़े के तौर पर ग्रहण करता है। मतलब यह कि 'गोदान' सबको सोचने की सामग्री प्रदान करता है और किसी न किसी बिंदु पर अपनी अशेषता का विपुल परिचय देता है।

ज़ाहिर है कि अशेषता एक सत्यापित गुणवत्ता का नाम है जो स्तरीय कलात्मक रचनाओं को वैज्ञानिक या तकनीकी उत्पादनशीलता से भिन्न ठहराती है और केवल बाहरी उपयोगिता के साधारण संदर्भों से हटकर भीतरी तथा मानवीय धरातल पर जीने-जुड़ने की नयी-नयी ताक़त मुहैया करती है। रचना की विलक्षण गूंज का उन्मुक्त नैरन्तर्य ही उसकी अशेषता है जो अनेक गुणधर्मों और रचना-बाह्य कारकों का योग होती है।

प्रेरणा की सशक्तता

किसी रचना की अशेषता मुख्य रूप से उसमें अनुस्यूत प्रेरणा की सशक्तता पर निर्भर करती है। रचना-कर्म मनोवैज्ञानिकतया यदि तनाव के अभिवाह और विमोचन की प्रक्रिया है तो प्रेरणा इस प्रक्रिया का कारण भी है और संकल्प भी। इसलिए जिन रचनाओं के पीछे प्रेरणा के रक्त की कमी होती है वे शीघ्र ही परिक्लान्त हो जाती हैं। प्रेरणा की दरिद्रता को कुशल साज-सज्जा भी छिपा नहीं सकती। बौद्धिकता भी इस विपन्नता को ढक नहीं पाती। अगर रचना केवल रचनाकार की समझ में आ सके और पाठक पर अनावश्यक अविश्वास की मनोवृत्ति मुखर हो उठे तो समझ लेना चाहिए कि लेखकीय प्रेरणा आत्मवरीयता की दलदल में धंस रही है और लेखन तथा सामाजिक मांग में तालमेल नहीं रह गया है। यह तालमेल टूटता है तो कृतियां अपने सांस्कृतिक परिवेश में संवादशील न होकर पुस्तकालयों में अछूती पड़ी रहती हैं। किसी भी साहित्य के लिए यह बहुत बड़ा संकट होता है। असलियत यह है कि बड़ी प्रेरणा हमेशा बड़े प्रयोजन से पहचानी जाती है और 'बड़ा' वही है जो दूसरों में बंटकर उन्हें बदल देता है। हिन्दी साहित्य में 'रामचरितमानस' इसका अन्यतम उदाहरण है; वह रामत्व की अदम्य, विराट तथा अनुपम प्रेरणा से अनुप्राणित है।

हेनरी जेम्स ने बहुत पहले ही सशक्त प्रेरणा और रचनात्मक अशेषता कार्य-कारण संबंध पर ज़ोर देते हुए चार्ल्स डिकन्स जैसे महान् उपन्यासकार की परवर्ती कृतियों पर खुलकर शर-संधान किया था। सन् १८६५ में डिकन्स का अन्तिम पूर्ण उपन्यास 'ऑवर म्यूचुअल फ्रेंड' छपा था। तब जेम्स ने कड़े शब्दों में लिखा था—"हमारे विचार में यह डिकन्स की सबसे कमज़ोर कृति है। यह किसी अस्थायी परेशानी के कारण नहीं, स्थायी निःशेषता के कारण बहुत अकिंचन है। इसमें प्रेरणा की कमी है। पिछले दस वर्षों से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि डिकन्स खुद को हम पर लादते चले आ रहे हैं। 'ब्लीक हाउस' (१८५२-५३) लादी गयी थी, 'लिटल डॉरिट' (१८५५-५७) भी मात्र आयासित थी और यह भी मानो कुदाली तथा गैंती से खोदकर निकाली गयी है।"[1] जेम्स की इस स्थापना में काफ़ी वज़न है कि अशेषता की सम्भावना से वंचित प्रेरणा-हीन रचना कारखाने का उत्पादन होती है। डिकन्स ही का 'डेविड कॉपर फ़ील्ड' (१८४९-५०) यदि उनकी इन परवर्ती कृतियों की अपेक्षा बहुत अशेष है तो इसलिए कि वह उपन्यास जीवन्त और प्रामाणिक प्रेरणा की उपज है। उद्वेलनकारी यथार्थजीवी प्रभाव-क्षमता की व्यापकता को सशक्त प्रेरणा की पहली शर्त कहा जा सकता है। यह क्षमता जीवन की वास्तविकताओं के गहरे वस्तुपरक आकलन से उत्पन्न होती है।

सीमित, व्यक्तिवादी और तात्कालिक प्रकार की प्रेरणा भी रचना को अल्पायु बनाती है। इसमें संदेह नहीं कि किसी ख़ास संदर्भ में इस कोटि की प्रेरणा भी शिद्दत से पूर्ण हो सकती है, मगर वक्त की कसौटी पर अन्ततोगत्वा इसका प्रतिफलन चिरस्थायी नहीं होता। उदाहरण के लिए किसी प्रिय के अचानक बिछुड़ जाने से शोकग्रस्त होकर लिखी गयी कविता तब तक चिर-स्मरणीय नहीं हो सकती जब तक कि व्यक्तिगत रिश्तेदारी की भावुकता के स्थान पर वह मृत्यु के सत्य को केन्द्र में रखकर नहीं चलती। इसी प्रकार भारत पर विदेशी आक्रमण को लेकर आक्रामक देश के विरुद्ध जितने भी काव्य-संकलन समय-समय पर प्रकाश में आए, वे सभी बाद में महत्त्वहीन हो गए। एक बार इसी प्रसंग में हरिवंश राय बच्चन ने सही सवाल उठाया था

१. हेनरी जेम्स, सिलेक्टिड लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (लन्दन, पेंगुइन बुक्स, १९६८) पृ० ३१

कि लेखकीय प्रेरणा और प्रयोजन की सार्थकता किसी पूरे देश के विरोध में नहीं, विघटनवादी शक्तियों और युद्ध जैसी लानतों के सामान्य खंडन में होती है—चाहे युद्ध भारत में हो या अमरीका में। और यह खंडन भी सीधा प्रचारात्मक तरीके से नहीं किया जाना चाहिए। इसे व्यापक मानवीय चिन्ता के उत्स से अपने आप निकलकर आना चाहिए—जैसे ब्रेख्त के अधिकांश नाटकों में, जैसे भारती के 'अंधा युग' में (सामूहिक आत्महत्या के धरातल पर) इसका चित्रण किया गया है। वास्तव में रचनात्मक प्रेरणा रचनाकार के राष्ट्रीय, समाज-राजनैतिक और वैश्विक सरोकारों का परिप्रेक्ष्य है जिसमें उसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष पक्षधरता का विवेक भी शामिल रहता है। अतः किसी रचना की अशेषता इस बात पर भी निर्भर करती है कि रचनाकार किस वैचारिक ज़मीन पर खड़ा होकर कौन-सी अपील कर रहा है।

प्रेरणा को प्रायः एक क्षणिक आवेशपूर्ण स्थिति और व्यक्तिगत किस्म की चीज़ मानकर यह कहा जाता है कि उस पर रचनाकार का कोई वश नहीं होता, कि वह कहीं से भी आ सकती है और किधर को भी जा सकती है। अगर इस मान्यता का उद्देश्य सिर्फ उस मनोवैज्ञानिक अवस्था को रेखांकित करना है जिसमें अचेतावचेत का प्राबल्य स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का अतिक्रमण करता हुआ प्रतीत होता है तो बात किसी सीमा तक स्वीकार्य हो सकती है; लेकिन अगर उसका मतलब स्वयं प्रकाश्य संज्ञान की तुलना में सोद्देश्य चिंतन, परिश्रम और जागरूकता की भूमिका का अवमूल्यन करना है तो यह धारणा हास्यास्पद तथा भ्रामक हो जाती है। प्रेरणा तो रचनाकार के समूचे व्यक्तित्व की पहचान है। इसका उदय किसी रहस्यवादी शून्य से नहीं, रचनाकार के आत्म और वस्तुजगत की टकराहट से होता है। यह टकराहट रचनाकार के संवेदनशील मानसपटल पर ऐसी अनेक अनुभूति-पुष्ट वैचारिक प्रतिक्रियाओं को उभारती है जिन्हें शब्दों में ढालकर वह दूसरों में बांटने के लिए आतुर हो जाता है। इन प्रतिक्रियाओं का स्वरूप समानुभूतिपरक भी हो सकता है और इनके पीछे प्रतिरोध तथा असहमति की उत्प्रेरणा भी हो सकती है। प्रेरणा की सशक्तता का समीक्षात्मक मूल्यांकन करते समय लेखक की निषेधात्मक प्रतिक्रिया और उसके प्रतिक्रियात्मक निषेध में अन्तर करना आवश्यक हो जाता है। किसी अन्य की रचना के जवाब में और विचार-सरणि या व्यक्ति को काटने-गिराने के सीमित उद्देश्य से जिस प्रेरणा का उदय होता है उसके मूल में निषेधात्मक प्रतिक्रिया छिपी रहती है; जबकि प्रतिक्रियात्मक निषेध वह है जहां रचनाकार किसी पालित आग्रह या प्रतिकार के बिना, वस्तुजगत के क्रमिक साक्षात्कार से उत्पन्न छद्महीन प्रतिक्रियाओं को उन अवस्थाओं के निषेध की ओर उन्मुख करता है जो उसकी समझ के अनुसार सामूहिक अमंगल का कारण होती हैं। कालजयी रचनाओं के सर्वेक्षण से पता चलता है कि उनकी अशेषता निषेधात्मक प्रतिक्रिया के स्थान पर प्रतिक्रियात्मक निषेध की भूमि पर अधिक पल्लवित होती है। वाल्मीकि और क्रौंचवध का उपाख्यान इसी तथ्य का अनुमोदन करता है। यही कारण है कि रांगेय राघव का 'सीधा सादा रास्ता' उस ऊंचाई तक नहीं पहुंच पाता जिस तक कि उन्हीं का 'कब तक पुकारूं' पहुंच जाता है। 'सीधा सादा रास्ता' भगवती चरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को काटने में उलझा रहता है लेकिन 'कब तक पुकारूं' पूरी समाज-राजनैतिक व्यवस्था के शोषण-तन्त्र को बड़े कलात्मक स्तर पर उभारता और नकारता है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी से शब्द उधार लेकर कहें तो सशक्त प्रेरणा के पीछे "आत्मदान की आकुलता" होती है।

निष्कर्षात्मकता बनाम निष्कर्षहीनता

रचना में निष्कर्ष होना चाहिए या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है जो कई पहलुओं से विचार की मांग करता है; लेकिन इतना निश्चित है कि इसका सम्बन्ध रचनात्मक अन्तर्वस्तु के वैचारिक संश्लेषण से है जिस पर कि किसी रचना की अशेषता बहुत दूर तक निर्भर करती है। आवश्यक नहीं कि स्तरीय रचनाएं चिन्तन अथवा कथात्मक परिणति के धरातल पर पाठक को किसी निश्चित समाधान के विन्दु पर ले जाएं; मगर वेहतर स्थिति वही होती है जहां वे असलियत को खोलने के क्रम में दिशा-संकेत से भी संगर्भित रहती हैं। आख़िर 'क्या है' और 'क्या चाहिए' की प्रवृत्तियां परस्पर-विरोधी नहीं, परस्पर-पूरक और सहजात होती हैं।

प्राचीन महाकाव्यों और नाटकों में न केवल फलागम तक पहुंचा जाता था बल्कि उनमें मनोरंजन के कलात्मक माध्यम से सहृदयों को सार्थक जीवन विताने की शिक्षा का विनियोजन भी रहता था। कालिदास और शेक्सपियर की कृतियों के असंख्य वाक्यों को आज भी जीवन-साक्ष्य के रूप में उद्धृत किया जाता है। इन उद्धरणों में जीवन के अनुभवों का निचोड़ मान कर इन्हें प्रमाण-वाक्यों के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। इतनी स्पष्ट और सपाट समाधानपरकता के वावजूद अगर क्लासिकल रचनाओं की अशेषता आज तक बनी हुई है तो ज़ाहिर है कि निष्कर्षात्मकता को अस्वस्थ एवं अनावश्यक कहकर एकदम ख़ारिज नहीं किया जा सकता। जिसे हम निष्कर्ष या समाधान कहते हैं वह रचनागत वैचारिक स्थापना के अतिरिक्त और क्या है? आधुनिक साहित्य से उदाहरण लें तो 'अज्ञेय' जब 'हम नदी के द्वीप हैं' कहते हैं और 'नदी के द्वीप' के शुरू में या वीच-वीच में अंग्रेज़ी रचनाकारों की प्रसिद्ध उक्तियों को अपनी संवेदना का हिस्सा बनाते हैं तब क्या वे जीवन-विषयक किन्हीं महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं से उत्प्रेरित नहीं होते? और उपन्यास के अन्त में जब वे चन्द्रमाधव को अकेला छोड़ देते हैं या भुवन को रेखा से हटा कर गौरा की ओर उन्मुख करते हैं तब क्या सचमुच वे किसी व्यावहारिक समाधान का संकेत नहीं देते? मुक्तिबोध जैसा समर्थ कवि भी—जिसकी संवेदना 'अज्ञेय' से नितान्त भिन्न है – स्वयं को अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाकर संगत निष्कर्षों के लिए जूझने वाला रचनाकार घोषित करता है और इस प्रतिबद्धता के कारण ही वह अपने समकालीनों में सर्वाधिक अशेष है। सिद्धान्त का सहारा लेकर अपनी बात को पुष्ट करना चाहें तो आधुनिक मनोविज्ञान की इस निश्चित मान्यता को भी ध्यान से हटाया नहीं जा सकता कि तमाम प्रकार की सर्जनात्मकता अन्ततोगत्वा किसी समस्या के साक्षात्कार और समाधान की प्रक्रिया है।

दूसरी ओर यह भी ठीक है कि आज का मनुष्य जिन समाधानहीन समस्याओं के युग में जी रहा है उनका वड़ा भारी और ईमानदार तकाज़ा होता है कि साहित्य-स्रष्टा केवल प्रश्नों की निरन्तरता को खोलकर रखे, उन पर उत्तरों का आरोपण न करे। इस प्रामाणिक आग्रह के फलस्वरूप अब बहुमत इस पक्ष में प्रतीत होता है कि महान् रचनाकार वास्तव में जीवन-विषयक निष्कर्षों को प्रस्तुत नहीं करता, जीवन की विशेषताओं से परिचय कराता है। रचनात्मक निष्कर्षहीनता के लिए आग्रह इतना बढ़ गया है कि आज के अधिकांश लेखकों ने इसे साहित्यिक स्तरीयता का प्रतिमान मान लिया है। समाधान का तनिक-सा संकेत पाते ही उनकी नापसंदगी ज़ोर मारने लगती है। यह एक दूसरे प्रकार का अतिवाद है। उदाहरण के लिए सभी जानते हैं कि मोहन राकेश समस्याओं का लेखक है, समाधानों का नहीं, कि इसी कारण उसकी एक भी प्रसिद्ध रचना सुखान्त नहीं है। 'लहरों के राजहंस' की रचना-प्रक्रिया का जो विवरण उसने प्रस्तुत किया है वह रचना के समापन के प्रति उसके मूल दृष्टिकोण का उद्‌घाटक है। लेकिन

'मलबे का मालिक' कहानी के अन्त में कुत्ते का प्रतीक क्या आ गया कि गोविन्द मिश्र को अकारण ही इसके समापन से वितृष्णा हो गयी। उन्हें शिकायत है कि यह साफ़-सुथरी कहानी वैसे तो बिना किसी निष्कर्ष की ओर घिसटते हुए भी एक सामाजिक संदर्भ से जुड़ती है; लेकिन मोहन राकेश ने इसके अन्त में कुत्ते के प्रतीक को लाकर सब बंटाधार कर दिया है क्योंकि यह स्वयं में एक छद्म निष्कर्ष है, रोमानी दृष्टि का सूचक है, सामाजिक संदर्भों को उनकी पूरी जटिलता में उठाने की बजाए सिर्फ एक पीड़ा में अटका देना है।[1] गोविन्द मिश्र की शिकायत में दम हो सकता है, मगर यदि हम पाठकों में इस कहानी की अशेषता का अध्ययन करें तो शायद ही कोई ऐसा कथा-प्रेमी मिलेगा जो कुत्ते के प्रसंग को नहीं दोहरायेगा।

इसमें संदेह नहीं कि 'निष्कर्ष' ने बहुत-सी रचनाओं को नुकसान पहुंचाया है। 'कामायनी' के अन्तिम सर्ग इसीलिए पूरी रचना से अलग-थलग पड़ गये हैं। प्रेमचन्द की वही कहानियां सबसे ज़्यादा चर्चित हैं जिनमें आदर्शात्मक निष्कर्ष का निर्वाह नहीं है—जैसे 'कफ़न' और 'पूस की रात'। सच यह है कि अच्छी और अशेष रचना में निष्कर्षहीनता भी निष्कर्ष बन जाती है और उसका निष्कर्ष भी निष्कर्षहीन बना रहता है—तब तक जब तक कि वह पाठक-वर्ग को अपना-अपना निष्कर्ष निकालने की शक्ति, तलाश और दिशा प्रदान करती है। बड़ी रचनाएं हमेशा समस्याओं की वास्तविक पहचान कराती हैं, उन्हें गणित के सवालों की तरह हल नहीं करतीं। जब तक वे पहचान कराती हैं तब तक उनकी अशेषता बनी रहती है।

यह सोचना ग़लत है कि रचना के संदर्भ में निष्कर्षहीनता और मूल्यहीनता एक ही आयाम के दो नाम हैं। रचना निष्कर्ष के बल पर नहीं, अपने जीवन-मूल्यों और कला-मूल्यों के बूते पर अमर होती है। प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' की नायिका मधूलिका शत्रु-देश के राजकुमार से प्रेम कर बैठती है, फिर गहरे अंतर्द्वन्द्व से गुज़र कर राजकुमार को पकड़वा देती है; लेकिन जब देश-प्रेम के इस महान् कर्म के फलस्वरूप उससे पुरस्कार मांगने को कहा जाता है तब वह मांग करती है कि उसे भी राजकुमार के साथ प्राण-दण्ड दिया जाए। और कहानी यहीं समाप्त हो जाती है, फैसले अथवा निष्कर्ष का अनुमान पाठक पर छोड़ दिया जाता है; मगर पूरी कहानी की उत्तमता यदि एक ओर वैयक्तिक मूल्यों पर सामाजिक मूल्यों की श्रेष्ठता के बीज-विचार पर टिकती है तो दूसरी ओर स्थितियों की गहरी पकड़, चुस्त संवाद-योजना, भावानुरूप भाषा, शैली की प्रयोगधर्मिता, काव्यात्मक लय की उपस्थिति आदि अनेक कला-गुण भी उसमें अन्तर्वस्तु और रूप की अद्भुत एकता का संघटन करते हैं। कहानीकार अपनी ओर से कुछ ख़ास नहीं कहता, संकेत के धरातल पर कहानी खुद ही बोल उठती है। यह 'बोलना' ही असल चीज़ है।

कुल मिलाकर देखें तो समाधान प्रस्तावित करने या न करने का संबंध रचनाकार की अनुभव-पद्धति से जुड़ा रहता है। यह पद्धति व्याख्या-प्रधान भी हो सकती है और निष्कर्षोन्मुखी भी; बल्कि एक ही लेखक की दो कृतियों में अलग-अलग अनुभव-पद्धतियों के प्रमाण भी मिल सकते हैं। रचना की अशेषता के लिए ज़रूरी बात यह है कि उसके पीछे जो अनुभव है उसमें जीवन धड़कता हुआ सुनायी दे, वह जीवन जिसे हज़ारों-लाखों लोग जीते हैं और वह जीवन जिसे हज़ारों-लाखों लोग जीने की कामना करते हैं। इसीलिए हर बड़ी रचना एक स्तर पर 'जीवन' होती है और दूसरे स्तर पर 'जीवन से कुछ अधिक' या भिन्न भी होती है।

---

१. गोविंद मिश्र, आज की कहानी-दो, नया प्रतीक, फरवरी १९७५, पृ० ७७

रचना का सक्रिय जीवन-काल

रचनात्मक अशेषता का मतलब सम्पूर्ण अमरता न होकर रचना के बहुत-से तत्त्वों में से कुछ तत्त्वों का चिर-संगत बने रहना है। ऊपर जिस 'पुरस्कार' कहानी का उल्लेख किया गया है उसकी रोमानियत आज अभिग्राह्य नहीं समझी जाती; फिर भी उसमें बहुत-कुछ ऐसा है जो आज भी आकृष्ट करता है। तथ्य यह है कि बड़ी-से-बड़ी कृति भी गुज़रते हुए समय के साथ क्षीण-प्रभ होती चलती है मगर उसका एक अनुकरणीय या प्रासंगिक सत्व हमेशा भास्वर रहता है। ख्रेपचेंको ने लिखा है—"जब अनेकदा कहा जाता है कि सच्ची कला-कृति कभी नहीं चुकती, तब यह कथन इसी अर्थ में ठीक होता है कि उस कृति के कलात्मक सामान्यीकरण किसी विशेष युग तक सीमित नहीं रहते। लेकिन कई पीढ़ियों तक क्लासिक समझी जाने वाली रचनाएं भी कभी-न-कभी सौन्दर्यबोधात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं। इससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उनकी रचनात्मक क्षमता निःशेष हो चुकी है। वास्तव में उनके सभी तत्त्व एक-ही समय पर प्रभावहीन नहीं हो जाते। कला-कृति एक संजटिल विचार-प्रणाली की तरह होती है जिसमें उसकी विभिन्न तहें अनेक सक्रिय सम्बन्धों में बंधी रहती हैं। कुछ तत्त्वों अथवा सम्बन्धों की 'तटस्थता' के बावजूद उसकी ललित एकान्विति बनी रह सकती है।"[१]

इसी सूत्र को आगे बढ़ायें तो हम कह सकते हैं कि अशेषता की गुणवत्ता को सर्जनात्मक कृति के दो काल-सापेक्ष स्तरों पर परखना चाहिए—एक उसके सक्रिय जीवन-काल के स्तर पर और दूसरे उसके 'तटस्थ' या अल्प-सक्रिय जीवन-काल के स्तर पर। एक उसका वर्तमान है, यौवन है; और दूसरा उसका भविष्य है, वार्धक्य है। दोनों में अन्तर तो रहेगा ही। कालजयी रचना वह होती है जो अपने सक्रिय जीवन-काल अर्थात् अपने युग के सामाजिक संदर्भों को आगे फेंकती हुई, आने वाली पीढ़ियों अर्थात् अपने अल्प-सक्रिय जीवन-काल की रचना-धर्मिता और मानवता को प्रभावित करती है। दोनों स्तरों पर उसका महत्त्व एक-जैसा नहीं होता और न ऐसे जड़ महत्त्व की अपेक्षा को स्वस्थ कहा जा सकता है। अगर हम पिछले हवालों से ऐसा कोई प्रतिमान बना भी लेते हैं तो ताज़ातरीन कृतियों पर उसे पूरी तरह लागू नहीं कर सकते। वस्तुओं के उद्भव और विकास के ऐतिहासिक और सामाजिक नियमों की जानकारी के बाद भी हम नहीं कह सकते कि जो रचना अपने सक्रिय जीवन-काल में बहु-चर्चित होती है, आने वाले कल में उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जायेगा। भविष्य की विचारधारात्मक या सौंदर्यात्मक अपेक्षाएं नितान्त भिन्न भी हो सकती हैं। अतः किन्हीं स्थिर नियमों के साक्ष्य से किसी नयी रचना की अशेषता की दो टूक भविष्यवाणी से बचना चाहिए। हम उसे उसकी परम्परा से जोड़कर कुछ गतिमान आयामों की बात अवश्य कर सकते हैं।

किसी रचना का सक्रिय जीवन-काल उसका जन्म-काल ही हो, यह भी ज़रूरी नहीं होता। आन्तरिक धरातल पर उसका सक्रिय जीवन-काल अपने युग के साथ उसकी परस्पर-क्रिया से निर्मित अवश्य होता है; लेकिन बाह्य धरातल पर अर्थात् पहचान और स्वीकार की दृष्टि से वह जीवन-काल पहले विलम्बित और फिर प्रलम्बित भी हो सकता है। बहुत-सी कृतियां ऐसी होती हैं जो किन्हीं कारणों से अपने आविर्भाव-काल में समुचित महत्त्व को ग्रहण

---

१. एम० ख्रेपचेंको, दि राइटर्ज़ क्रिएटिव इंडिविजुअलटी···(मास्को, प्रॉग्रेस पब्लिशर्स, १९७७) पृ० २२१

नहीं कर पातीं, लेकिन दशकों के बाद वे इस तरह जी उठती हैं कि फिर चिरकाल तक उनकी संगति बनी रहती है—भले ही तब तक उनका अभिव्यक्ति-पक्ष कुछ पुराना क्यों न पड़ गया हो। भारतेन्दु के नाटक अपने ज़माने की पारसी रंगमंचीय अपेक्षाओं द्वारा जैसे-तैसे ही झेले गए थे, परंतु भारतीय स्वतन्त्रता के परवर्ती आन्दोलन-वर्षों और स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में वे रंगमंच से लेकर पाठ्यक्रमों तक में अपनी अशेषता को सिद्ध करते रहे हैं। निराला और मुक्तिबोध की विलम्बित स्वीकृति के विषय में भी यही कहा जाता है कि उनकी रचनाएं अपने युग से आगे थीं।

विस्तीर्णता और गम्भीरता

साहित्यालोचन का यह आम मुहावरा है कि रचना में व्यापकता और गहराई दोनों का समन्वय होना चाहिए। रचनात्मक अशेषता की दृष्टि से यह घिसी-पिटी दीखने वाली प्रगुणता सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण है। विस्तीर्णता फलक की होती है और गम्भीरता विचार तथा विश्लेषण की। एक जीवन की यथातथ्य विविधता है और दूसरी उसे सूक्ष्मता से देखने एवं चित्रित करने की कला है। विस्तीर्णता यदि संदर्भ की सार्थकता है तो गम्भीरता उसके आकलन की। दोनों मिलकर जब चुने हुए जीवन-पक्षों का समग्रता में नया साक्षात्कार कराती हैं तब अशेषता की ओर बढ़ती हैं। कोरी विस्तीर्णता तो बाल गिनने के समान है और कोरी सूक्ष्मता मानो बाल की खाल उतारना है। "श्रेष्ठ रचना में आकलित जीवन-रूपों का विस्तृत और बारीक चित्रण या उद्‌घाटन होता है। रचना की इन विशेषताओं का सम्बन्ध लेखक की दृष्टिगत बारीकी और कल्पनात्मक सर्जनशीलता से होता है।"[1]

हिन्दी में 'गोदान' को लेकर विस्तीर्णता और गम्भीरता के आयामों पर काफी बहस होती रही है। कुछ विद्वानों के मत में इसका फलक तो बहुत व्यापक है मगर इसमें जीवन-रूपों और उनकी स्थितियों का चित्रण बहुत गहराई में जाकर नहीं हो सका है। अगर हम गहराई या सूक्ष्मता का अर्थ व्यक्ति-मानस का गहन मनोवैज्ञानिक अन्वेषण करते हैं तो इस मत की तनिक समीचीनता नज़र आ सकती है, लेकिन अगर हम गहराई को सामाजिक यथार्थ के बाहरी रूपों में, अर्थात् प्रतिनिधि पात्रों के परिवेशजन्य संघर्ष में देखेंगे तो यह मत अवश्य ही हल्का प्रतीत होगा। प्रेमचन्द की विशेषता है कि वे 'सूक्ष्मता' का आडम्बर खड़ा नहीं करते। वे बिना किसी मतवादी आग्रह के ही आनुभविक प्रमाणों के सजीव धरातल पर इतनी सादगी से रचना-कर्म की गहराई में उतर जाते हैं कि उनके प्रौढ़ उपन्यासों में घटनाएं, मानवीय क्रिया-कलाप, अन्तर-बाह्य द्वन्द्व और लेखकीय चिन्तन के सूत्र—सभी एक लय और अन्विति में बंध जाते हैं। 'गोदान' में सूक्ष्मता की कमी नहीं है। उसमें यदि कोई कमी है तो वह बनावट के किंचित असंतुलन की है। उसकी विराट विस्तीर्णता में कुछ ऐसे प्रसंग आ गए हैं जो अन्य प्रसंगों की होड़ में पूरी कथा का अविभाज्य और प्रामाणिक हिस्सा नहीं बन पाते। उदाहरण के लिए उसकी नगर-कथा के कई प्रसंगों में वह जान नहीं है जो ग्राम-कथा के छोटे-बड़े सभी प्रसंगों में जोर मारती है। चूंकि प्रेमचन्द के रचनात्मक अनुभव की जड़ें ग्राम-जीवन में हैं इसलिए 'गोदान' नगर-बोध के स्तर पर नहीं, परतंत्र भारत की टूटती हुई ग्राम-इकाई के स्तर पर विशेष प्रभावित करता है। यह

---

१. देवराज, काव्य-रचना : सामग्री, दृष्टि और स्तर, 'काव्य-रचना-प्रक्रिया' संपा० कुमार विमल (पटना, बिहार ग्रंथ अकादमी, १९७४) पृ० ४९।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कृषक-जीवन का इतना सूक्ष्म चित्रण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि रचनात्मक-विस्तीर्णता एक सीमा तक विधा-सापेक्ष भी होती है। विस्तीर्णता एक प्रकार से महाकाव्यत्व का गुण है जो जीवन के अधिकाधिक वैविध्य को समेटता है। प्रबंध काव्यों और उपन्यासों में उसका अवकाश सर्वाधिक रहता है। आज की लम्बी कविताएं भी उसी की ज़रूरत को पूरा करती हैं। इसका मतलब यह नहीं कि छोटी विधाएं संकीर्ण और अनावश्यक होती हैं। इसका मतलब यह है कि वे किसी केन्द्रीय भाव या विचार की गहराई में उतरने की प्रवृत्ति रखती हैं, लेकिन यह प्रवृत्ति भी सार्थक तभी होती है जब वे चित्रित जीवन-खण्ड की एक बड़ी व्यापकता को तलाशने तथा समझने का माध्यम बनाती हैं। सूक्ष्मता या गम्भीरता विधा-सापेक्ष गुण नहीं है। इसका पता रचनाकार की प्रेक्षण-शक्ति, संवेगों की पकड़, आनुभविक सम्पदा, विचार-दृष्टि, प्रतिभा, कल्पना, सहजानुभूति और कथन की रीति से चलता है। फिर भी विस्तीर्णता और गम्भीरता परस्पर-पूरक हैं और रचना की अशेषता इस पूरकता से निस्सृत होती है। अन्तर्मुखी रचनाकार बड़ी विधाओं में भी सूक्ष्मतर हो जाता है, जबकि बहिर्मुखी रचनाकार छोटी विधाओं में भी व्यापकता के लिए अवकाश बना लेता है। यही कारण है कि 'ईदगाह' कहानी 'लाल टीन की छत' उपन्यास की अपेक्षा एक बड़ी ज़मीन पर खड़ी प्रतीत होती है। 'ईदगाह' की अपनी सूक्ष्मता भी है लेकिन 'लाल टीन की छत' को व्यापकता से चिढ़ है, बहिर्जगत के इन्द्रधनुषी प्रसार से एलर्जी है। कथ्य और कथन के धरातल पर लीक से हटकर चलने के कारण 'लाल टीन की छत' भी कुछ अतिरिक्त उत्साहियों को प्रभावित कर सकती है, मगर अशेषता की कसौटी पर 'ईदगाह' ही अधिक खरी उतरती है। आम आदमी को जो परितोष 'ईदगाह' से मिलता है वह 'लाल टीन की छत' से नहीं। इधर नयी सूक्ष्मता ने अपना दायरा इतना संकुचित कर लिया है कि वह रचना में रचनाकार की आत्मरति का परिचय देने लगी है, आत्म में रचना-रति का नहीं। व्यापकता से कटी हुई सूक्ष्मता का यही परिणाम होता है।

अशेषता के द्वितीयक संदर्भ

रचना की भीतरी सामर्थ्य ही मूल रूप से उसकी अशेषता का निर्णायक कारण होती है, लेकिन कुछ रचना-बाह्य या गौण कारणों से भी यह अशेषता निर्धारित या अभिवृद्ध हो सकती है। ऐतिहासिक पहल इसी प्रकार का एक कारण है। जिस रचना के द्वारा किसी साहित्य में किसी नयी विधा, अन्तर्विधा, आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति, प्रयोग की प्रचुरता आदि का सूत्रपात होता है वह अपने विशेष ऐतिहासिक उद्भव के कारण भी सदैव के लिए उल्लेखनीय बन जाती है। कलात्मक दृष्टि से महत्त्वहीन होकर भी 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का पहला उपन्यास होने की वजह से अविस्मरणीय है। इसके विपरीत भुवनेश्वर का 'तांबे के कीड़े' (हिन्दी का पहला विसंगत नाटक) और निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' या शिवप्रसाद सिंह की 'दादी मां' (नयी हिन्दी कहानी की शुरुआत के दो आयाम) में भीतरी सामर्थ्य भी है मगर ऐतिहासिक पहल ने उनकी अशेषता को अतिरिक्त बल प्रदान किया है।

इसी प्रकार कुछ रचनाएं यदि अनुकूल आलोचना का सम्बल पाकर दूसरों से आगे निकल जाती हैं तो कुछ को आलोचना की प्रतिकूलता ही पीछे धकेल देती है और कुछ को आलोचना की अकारण चुप्पी ही महत्त्वांकित नहीं होने देती। हिन्दी में रचनाकार को मरणोपरान्त महान् घोषित करने की आदत बहुत आम है। जिसपर इस आदत की कृपा हो जाती है

उसकी पंक्ति-पंक्ति को ढूंढ़ कर अशेषता के परिवृत्त में लाने का प्रयास किया जाता है। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां एक वर्ग के समीक्षक किसी रचना को आसमान पर चढ़ाना चाहते हैं और दूसरे वर्ग के विश्लेषक उसी को नीचा दिखाना चाहते हैं। इस संदर्भ में अज्ञेय के समीक्षकों की टकराहट किसी से छिपी हुई नहीं है। यह असंतुलन एक ओर अतिवादिताओं को सामने लाता है तो दूसरी ओर यही विवादास्पदता किसी रचना को देर तक जीवन्त भी रखती है। विकटतम अन्याय तब होता है जब किन्हीं साहित्येतर कारणों से किसी रचना या रचनाकार को साहित्य-समीक्षा के मंच से लगातार दूर रखा जाता है। रांगेय राघव के समान विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न लेखक की लम्बी उपेक्षा को देखकर लगता है कि हिन्दी आलोचना को या तो सर्जनात्मक ऊर्जा की पहचान नहीं है, या उसे अपनी अमूल्य धरोहर को सम्भाल कर रखने की चिन्ता नहीं है, या फिर उसके पास इतनी फुर्सत नहीं है कि किसी समर्पित मसिजीवी को आद्योपान्त पढ़ सके। अगर ऐसा न होता तो अब तक हमें मान लेना चाहिए था कि दो वृहदाकार खण्डों में लिखित 'महायात्रा' हिन्दी का एकमात्र उपन्यास है जो इतिहास और नृतत्त्वशास्त्र को सर्जनशीलता में ढालकर मानव-सभ्यता के विकास की दस्तावेज़ी कथा को सफल ढंग से प्रस्तुत करता है। हिन्दी की शीर्षस्थ आलोचना ने 'महायात्रा' पर एक पंक्ति तक नहीं लिखी। वास्तव में रांगेय राघव के सम्पूर्ण कृतित्व के साथ कुछ ऐसा ही उपेक्षा का बर्ताव किया गया है। यों तो इसके बावजूद उनके उपन्यासों के नये संस्करण आज भी प्रकाशित हो रहे हैं, मगर आलोचना का सही साथ मिलता तो उनकी अशेषता पर पड़ी हुई धुन्ध छुप सकती थी।

कुछ रचनाएं विभिन्न पाठ्यक्रमों में निर्धारित होने के कारण और कुछ अन्य स्तरों पर प्रचारित होने के कारण भी ज्यादा लम्बी उम्र भोग जाती हैं। फिल्मीकरण के माध्यम से लोक-जीवन में उतर कर, या विशेष पुरस्कार से सम्मानित होकर भी किसी रचना का सक्रिय जीवन-काल बढ़ जाता है। आज के युग में बड़े-बड़े प्रकाशन संस्थानों का प्रचार-तंत्र और वितरण-व्यापार भी इस दिशा में व्यावसायिक स्तर पर एक ज़ोरदार भूमिका निभाता है।

ऐसे में जब हम कहते हैं कि महान् रचनाएं अपनी महानता के लिए किन्हीं बाह्य तत्त्वों पर बिल्कुल निर्भर नहीं करतीं तब हमें नहीं भूलना चाहिए कि महानता की स्वीकृति के व्यावहारिक संदर्भ बहुत विचित्र और संजटिल होते हैं। कहते हैं कि 'गीतांजलि' को नोबेल पुरस्कार मिला तो बहुत से संभ्रान्त और विद्वान लोग रवीन्द्रनाथ ठाकुर को बधाई देने पहुंचे। इन लोगों में अधिकांश वे थे जिन्होंने कवीन्द्र की उपेक्षा अथवा अवहेलना की थी; लेकिन विदेश की सबसे बड़ी मान्यता के करिश्मे ने उनके लिए एक भारतीय लेखक को रातों-रात शिरोमणि रचनाकार बना दिया था। तब मर्माहत महाकवि ने इतना ही कहा था —मैं आपके सम्मान-चषक को हाथों से तो छू सकता हूं, परन्तु ओठों तक ले जाने में असमर्थ हूं। □

कहानी

आवाज़

□ ओ० पी० शर्मा 'सारथी'

मुझे मालूम है कि यह धन्धा त्रिशंकु की भांति शून्य में भटक जाने के समान है अथवा रेत में कश्ती चलाने के बराबर है, अथवा पत्थरों को भिगोने का व्यर्थ यत्न है अथवा अपने प्रतिविम्ब से बातें पूछने जैसी ही क्रिया है परन्तु इस कथ्य के वशीभूत होकर कि आदमी के मिल जाने के पश्चात् भी आदमी को तलाश करने के अवसर बने रहते हैं, मैं बराबर आदमी की तलाश किये जा रहा हूं। धन्धा अपनाए रखा है।

मेरी बस्ती में जहां आदमी गुम होते हैं, न ही कोई अपना चिह्न छोड़ता है और न ही किसी को कुछ स्मरण रहता है कि गुम होने वाले व्यक्ति के हाव-भाव, बातें, चलना-फिरना और नख-शिख कैसे थे। इसलिए कई बार तलाश करने की संभावनाएं इसलिए बहुत बढ़ गई हैं कि खोए हुए व्यक्ति और तलाश किए गए व्यक्ति, में कुछ थोड़ा बहुत अन्तर हो भी तो तलाश को मान्यता मिल जाती है।

बस्ती का एक महत्त्वपूर्ण आदमी गुम हो गया। बहुत शोर मचा। बस्ती की हानि··· मेरी बस्ती का विधान भी विचित्र था। विचार गुम होने पर जूं नहीं रेंगती थी व्यक्ति गुम हो जाने पर इतना हंगामा होता था कि संभाले नहीं संभलता था। मैं भी उस महत्त्वपूर्ण आदमी की तलाश में निकल पड़ा। अब उस बस्ती की सीमा पीछे रह गई थी जहां से मैं उस आदमी की तलाश के लिए चला था और एक बस्ती में पहुंचा था जहां वह आदमी रहता था, जिसके नख-शिख मुझे खूब समझा दिए गए थे। जिसकी हरकतें और स्वभाव के बारे में मुझे इतना अधिक बता दिया गया था कि उसमें से कुछ भी याद रख पाना मेरे लिए सम्भव नहीं हो रहा था।

यह तलाश भी बड़े विचित्र ढंग से मेरे अस्तित्व के साथ जुड़ गई थी। मैं आदमी को तलाश करने में मशहूर हो गया था। बस्ती में जहां कहीं आदमी गुम होता तुरन्त ही मुझे तलब कर लिया जाता। मुझे गुमशुदा आदमी के बारे में अधिक से अधिक जानकारी दे दी जाती और मैं आदमी की तलाश में घर-घर, दर-दर और सड़क-सड़क घूमता-फिरता।

अपनी बस्ती में बहुत बार ऐसा भी हुआ था कि एक आदमी ने मुझसे सम्पर्क स्थापित किया। फिर कहा—तुम्हें बहुत मुश्किल काम करना पड़ेगा।

—आसान हो या मुश्किल, मैं स्वयं देख लूंगा ? तुम नख-शिख बताओ। हुलिया बताओ।

—हुलिया मेरे जैसा। वह आदमी कहता।

—आंख, नाक, कान, मुंह, कद, धन्धा···मैं पूछता।

— सब मेरे ही जैसा समझ लो।

—क्या मतलब ? मुझे पूछना पड़ता।

—बस आगे खुद समझ लो। उत्तर मिलता।

और फिर यूं होता कि मुझे उसी आदमी को ढूंढ़ना पड़ता। और ढूंढ़ते-ढूंढ़ते उमरें गुज़र जातीं लेकिन मैं आदमी को उस आदमी में तलाश न कर पाता। कई बार थक-हार कर बैठ जाता। और फिर कई बार मुझे ऐसा अनुभव होने लगता कि यदि मैंने इस आदमी की तलाश में अधिक सिर मारा तो मैं स्वयं ही कहीं गुम होकर न रह जाऊं और सारा खेल ही समाप्त हो जाए।

और यह भी एक संयोग ही था कि मैं गुम नहीं हुआ था और अभी तक गुम हुए लोगों की तलाश जारी रखे हुए था।

बस्ती देखने में बहुत दिलचस्प थी। रंग बहुत थे। रोशनियां बहुत थीं। नुमाइशें बहुत थीं। लेकिन इसके साथ-साथ बस्ती में अक्षरों और शब्दों का जैसे सैलाब उमड़ पड़ा था। दाएं अक्षर, बाएं अक्षर। ऊपर अक्षर, नीचे अक्षर। इधर अक्षर, उधर अक्षर। ऐसा भी लगता था कि यदि उस बस्ती में से अक्षर निकाल लिये जाते तो वह मात्र मिट्टी का ढेर रह जाती।

और जब मैंने दो-चार आदमियों से गुमशुदा आदमी के बारे में कुछ पूछने का साहस किया तो मुझे कुछ घबराहट हुई।

बोलने का रिवाज वहां शायद खत्म हो चुका था। और लिखने की परंपरा ने ज़ोर पकड़ लिया था। क्योंकि मैं जिससे भी पूछता उसका उत्तर अक्षरों और शब्दों में मुझे मिलता। फिर— धीरे-धीरे मुझे अपनी ग़लती का अहसास होने लगा कि मैं किस बस्ती में एक गुमशुदा आदमी को ढूंढ़ने आया हूं। वहां पर किसी आदमी को अपना नाम तक लिखकर रखना पड़ता है। क्योंकि बस्ती में हर घर के दरवाज़े पर घर के मालिक के नाम की पट्टिका लगीं हुई थी जिससे साफ ज़ाहिर होता था कि घर से निकलने के बाद हर आदमी शायद अपने घर को भूल जाता है और वापसी पर उसे तमाम बस्ती के दरवाज़ों पर लगी पट्टिकाएं पढ़नी पड़ती हैं। जहां कपड़ों के ढेर थे वहां कपड़े लिखा हुआ था, जहां अनाज था वहां अनाज लिखा हुआ था, जहां आईने थे वहां आईने लिखा था और जहां रोशनी या अन्धेरा था वहां पर रोशनी और अन्धेरा लिखा हुआ था।

'ज़ात' भी अपनी पहचान शायद गुम कर चुकी थी। इसीलिए कहीं पर लिखा था नारियों के लिए, कहीं लिखा था पुरुषों के लिए।

धीरे-धीरे मैं जिस आदमी को तलाश करने के लिए आया था उसके नखशिख, लिबास, स्वभाव जो कुछ मुझे समझाया गया था मैं भूलने लगा। और उस बस्ती की बहुत सारी वस्तुओं ने मेरे मस्तिष्क में घर कर लिया। बहुत सारे अक्षरों ने मुझे इस भ्रम में डाल दिया कि शायद मैं स्वयं ही वह गुमशुदा आदमी हूं जिसकी तलाश बस्ती में की जानी है।

मैंने अब किसी से कुछ पूछना छोड़ दिया था। और अब अधिक चौकन्ना होकर रहना पड़ रहा था। हर समय आंखें खुली रखनी पड़ रही थीं। क्योंकि क़दम-क़दम पर अक्षर, पग-पग

पर शब्द। हर मोड़ पर इश्तिहार।

— अब चलो। यहां चलो। दाएं मुड़ो, बाएं हो जाओ। चेहरा देखो। यहां हंसो, वहां विलाप करो। मर कर उधर जाओ। जन्म लेकर इधर आओ। अकेले रहकर सब को देखो। सब में रहकर केवल स्वयं को देखो, जीवन के लिए रास्ता यहां से प्रारम्भ होता है। मृत्यु के लिए कृपया वहां जाएं। वहां धरती शुरू होती है। यहां आकाश समाप्त होता है। यहां बुद्धिमान रहते हैं। वहां मूर्ख रहते हैं। एक स्थान पर मैं चलते हुए थम गया— एक इश्तिहार पर दृष्टि पड़ी। लिखा था – इस बस्ती में कोई आदमी गुम नहीं है। सभी ढूंढ़े जा चुके हैं। यदि कोई भी आदमी यह प्रमाणित कर दे कि यहां कोई आदमी भटक गया है अथवा गुम है तो उसे बस्ती की सबसे बड़ी उपाधि से सम्मानित किया जाएगा।

मैं दुविधा में पड़ गया। बस्ती की चालढाल देखकर झट ही अनुमान किया जा सकता था कि यहां पर हर तथ्य, वस्तु, पदार्थ, आदमी, औरत, मकान, दीवार, रास्ता, चौराहा सभी कुछ गुम है। परन्तु इश्तिहार पर इसके विपरीत लिखा था।

मैं अब किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश करने लगा जो मुझे यह बता सके कि गुमशुदगी के प्रमाण के तौर पर क्या प्रस्तुत करना पड़ता है। और फिर मैंने एक पट्टिका देखी जिस पर लिखा था—यहां पर बस्ती का एक बुद्धिमान रहता है। मैंने झट दस्तक दी। तत्क्षण द्वार खुला। एक हंसता-मुस्कराता चेहरा मेरे सामने था। मैंने अभिवादन किया। उसने उत्तर दिया।

—मैं भीतर आ सकता हूं। मैंने पूछा।

—हां। आ सकते हो। मैं एक प्रबुद्ध व्यक्ति हूं। और हर प्रश्न का उत्तर दे सकता हूं। उसने स्वयं ही मेरी समस्या हल कर दी।

— यदि यह ज्ञान हो जाए कि कोई एक आदमी गुम है तो प्रमाण के तौर पर क्या प्रस्तुत करना पड़ता है?

उस प्रबुद्ध व्यक्ति ने मुझे सिर से पांव तक देखा। फिर गम्भीरता से उत्तर दिया—इस कार्य में तुम्हें सफलता मिलनी कठिन है। यहां हर आदमी का दावा है कि यहां कुछ भी गुम नहीं है और लगभग हर आदमी यह प्रमाणित भी कर चुका है।

— बस इतना ही बता दीजिए कि प्रमाणित कैसे करना है? मैंने याचना की।

—चिल्ला कर। शोर मचाकर। हंगामा करके। भीड़ को इकट्ठा करके चिल्लाओ। अभिनय करो। प्रभावपूर्ण अभिनय।

— आपने भी यही घोषित किया है? मैंने पूछा।

— हां, और मुझे याद नहीं कि मैं कितने दिनों तक चिल्लाता रहा। परन्तु इतना स्मरण है कि मैं इतना चिल्लाया था, इतना कुछ कहा था मैंने कि मुझे बात कहना ही भूल गई थी।

—यहां बोलने, बात करने की प्रथा समाप्त-सी हो गई है। ऐसा क्यों है? मैंने पूछा।

— आवश्यकता नहीं रही। सभी कुछ लिखा जा चुका है। हर वस्तु को नाम दे दिया गया है। हर दिशा और पदार्थ को लिखित भाषा दे दी गई है।

अब मैं बस्ती में घूमने लगा। किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश में जो गुम हो। मैं हर उस आदमी का पीछा करने लगा जो सड़क पर चल रहा होता और जब वह अपने घर में जा घुसता तो मुझे, बहुत निराशा होती। जब वह अपने धन्धे के स्थान पर पहुंच जाता तो मैं निराश लौट

आता। और यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। इतना अवश्य हुआ कि उस बस्ती के चौराहों और सड़कों से खूब परिचित हो गया। यहां पर कोई भी आदमी गुम नहीं था और न ही तलाश की आवश्यकता थी।

परन्तु अब धीरे-धीरे सड़क पर से गुजरते हुए, चौराहे को लांघते हुए गली में से निकलते हुए, घरों के आगे से होते हुए ऐसा लगने लगा था कि लोगों ने बहुत कुछ ग़लत लिख दिया है या फिर लोगों के बारे में काफी कुछ ग़लत लिखा जा चुका है। और मैं सोचने लगा था कि किसी भी दिन बस्ती के कुछ लोग, जो गुम हैं, मुझे मिल जाएंगे और मैं प्रमाणित कर सकूंगा कि यहां भी ऐसे लोग हैं जो गुम हैं।

निरन्तर तलाश करते हुए मुझे उसी बस्ती में एक गिरोह मिल गया। उसमें आदमी भी थे, औरतें भी थीं। और दरमियानी ज़ात के जीव भी थे। और जो गुम थे।

उनके नाम गुम थे। घर गुम थे। हाथ-पांव और आंखें गुम थीं। उनके धन्धे और कारोबार गुम थे।

वह लोग सड़क की तलाश में थे। बस्ती में रहकर बस्ती की तलाश में थे। वो सारे का सारा गिरोह अपनी तलाश में था।

और अब मैं एक चौराहे पर था और उस बुद्धिमान के कहने के अनुसार चिल्लाने, हंगामा करने की तैयारी में था। हंगामे के साथ-साथ मैंने कुछ इश्तिहार भी लिख लिये थे और मुझे उनका भी प्रदर्शन करना था।

चौराहे के बीचों-बीच मेरा घेराव कर लिया गया। बुद्धिमानों ने और बस्ती के उन लोगों ने मुझे घेर लिया जो कहते थे यहां कोई गुम नहीं है। यहां सब कुछ तलाश कर लिया गया है। जिन्होंने इश्तिहार लगाए थे कि प्रमाणित करने वाले को बहुत बड़ी उपाधि से सम्मानित किया जायेगा। बुद्धिमानों, प्रबुद्ध लोगों की संख्या बढ़ती गई। इश्तिहार वालों की गिनती बढ़ती गई। मुखौटे वालों की तादाद बढ़ती गई। और मैं घिरता चला गया। मैं अपने ही वृत्त में; अपनी आवाज़ लेकर कसता चला गया।

और दूर-दूर तक वही लोग थे जो ढूंढ़े जा चुके थे। एक समुद्र उन्हीं के सिरों का, एक समुद्र उन्हीं के मुखौटों का। एक समुद्र उन्हीं की मुझे काटती हुई नज़रों का और मुझ पर उठी अंगुलियों का। मैं चिल्लाने लगा—यह बस्ती आदमी के इतिहास में एक नई उपलब्धि है। यहां पर कुछ भी गुम नहीं है। यहां पर हर वस्तु, पात्र, तथ्य, विचार, धारणा और आदमी सब तत्त्वों को खोज लिया गया है। यहां पर शताब्दियों तक यह प्रमाणित करना कठिन है कि यहां कुछ गुम है।

फिर तालियों की दहला देने वाली गूंज से मेरा अभिनन्दन किया गया और मेरे अन्वेषण कार्य की सराहना हुई। मान्यता के तौर पर मुझे बस्ती का बुद्धिमान और प्रबुद्ध व्यक्ति, घोषित किया गया।

मुझे खुश होकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए चौराहे से भागना पड़ा।

मैं उस बस्ती की सीमा को छोड़ चुका था जहां सब कुछ तलाश कर लिया गया था और अब—उस बस्ती के समीप था जहां आदमी गुम होता और उसे ढूंढ़ना पड़ता था।

(२८ दिसम्बर १९८५ को अभिनव थियेटर जम्मू में
आयोजित कहानी गोष्ठी में पढ़ी गई)

□

कहानी

सतह से नीचे

□ सूर्यबाला

अभी थोड़ी देर पहले ही दरवाज़े की घंटी बजी थी। मैंने ही खोला। आने वाले ने अतिशिष्ट भाव से मुझे नमस्ते की और पूछा—

"विहंग जी ··हैं क्या?"

मैंने 'जी हां' कहकर उन्हें बिठा दिया। वापस आकर आपकी स्टडी में झांका फिर धीरे से खोल कर कहा—"कोई सज्जन आये हैं।"

आपने 'कौन' कहकर एक बार माथे पर शिकन डाली और तत्क्षण "अच्छा-अच्छा, बिठा दिया न!" कहते हुए हड़बड़ाकर तुरंत उठ आये।

मैंने आपकी जल्दी से उठकर बैठक की ओर जाने वाली आत्मीय जल्दबाजी देखी तो मिनटों बाद चाय भी भिजवा दी। और जैसा कि आपका आदेश रहता है चाय में शकर मिलाने खुद पहुंच गई। देखकर आपने आगंतुक सज्जन से मेरा परिचय कराया—"मेरी धर्मपत्नी सविताजी—साहित्य और कला के प्रति उतनी ही समर्पित और निष्ठावान···।"

"जितने आप···" आगन्तुक सज्जन ने वाक्य पूरा कर मुझे फिर गद्‌गद भाव से हाथ जोड़े।

"मैं सोचता हूं, अपनी पत्रिका के विशेषांक के लिए तो आप मेरी कविता के बदले सविताजी का ही इंटरव्यू छापें तो ज्यादा बेहतर होगा। क्योंकि मेरे स्वभाव, जीवनदर्शन और रचना-प्रक्रिया पर जितने सही ढंग से सविता बोल सकेंगी, मैं खुद भी नहीं। और—वे अधिकारी भी हैं न!"

आगन्तुक ने गद्‌गद होकर कहा—"बहुत-बहुत आभारी हूं विहंग जी, इस सुझाव के लिए—मैं शीघ्र ही अपने उप-संपादक को भेजता हूं—कल ही ठीक रहेगा? मैं चाहता हूं जल्दी से जल्दी···" आप वापस महानता और उदारता के शिखर से मुस्कराये हैं, "इसके लिए तो भाई आप सविताजी से ही समय लीजिये क्यों सविता···?"

आगन्तुक को अपनी ओर देखता पाकर मैं बुद्धू-सी घबराई बैठी रही हूं तो आपने जोड़ा है—"कल तो हम दोनों एक सामाजिक-उत्सव में जा रहे हैं। परसों आइये, उस दिन मैं तो व्यस्त

आता। और यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। इतना अवश्य हुआ कि उस बस्ती के चौराहों और सड़कों से खूब परिचित हो गया। यहां पर कोई भी आदमी गुम नहीं था और न ही तलाश की आवश्यकता थी।

परन्तु अब धीरे-धीरे सड़क पर से गुजरते हुए, चौराहे को लांघते हुए गली में से निकलते हुए, घरों के आगे से होते हुए ऐसा लगने लगा था कि लोगों ने बहुत कुछ ग़लत लिख दिया है या फिर लोगों के बारे में काफी कुछ ग़लत लिखा जा चुका है। और मैं सोचने लगा था कि किसी भी दिन बस्ती के कुछ लोग, जो गुम हैं, मुझे मिल जाएंगे और मैं प्रमाणित कर सकूंगा कि यहां भी ऐसे लोग हैं जो गुम हैं।

निरन्तर तलाश करते हुए मुझे उसी बस्ती में एक गिरोह मिल गया। उसमें आदमी भी थे, औरतें भी थीं। और दरमियानी ज़ात के जीव भी थे। और जो गुम थे।

उनके नाम गुम थे। घर गुम थे। हाथ-पांव और आंखें गुम थीं। उनके धन्धे और कारोबार गुम थे।

वह लोग सड़क की तलाश में थे। बस्ती में रहकर बस्ती की तलाश में थे। वो सारे का सारा गिरोह अपनी तलाश में था।

और अब मैं एक चौराहे पर था और उस बुद्धिमान के कहने के अनुसार चिल्लाने, हंगामा करने की तैयारी में था। हंगामे के साथ-साथ मैंने कुछ इश्तिहार भी लिख लिये थे और मुझे उनका भी प्रदर्शन करना था।

चौराहे के बीचों-बीच मेरा घेराव कर लिया गया। बुद्धिमानों ने और बस्ती के उन लोगों ने मुझे घेर लिया जो कहते थे यहां कोई गुम नहीं है। यहां सब कुछ तलाश कर लिया गया है। जिन्होंने इश्तिहार लगाए थे कि प्रमाणित करने वाले को बहुत बड़ी उपाधि से सम्मानित किया जायेगा। बुद्धिमानों, प्रबुद्ध लोगों की संख्या बढ़ती गई। इश्तिहार वालों की गिनती बढ़ती गई। मुखौटे वालों की तादाद बढ़ती गई। और मैं घिरता चला गया। मैं अपने ही वृत्त में; अपनी आवाज़ लेकर कसता चला गया।

और दूर-दूर तक वही लोग थे जो ढूंढ़े जा चुके थे। एक समुद्र उन्हीं के सिरों का, एक समुद्र उन्हीं के मुखौटों का। एक समुद्र उन्हीं की मुझे काटती हुई नज़रों का और मुझ पर उठी अंगुलियों का। मैं चिल्लाने लगा—यह बस्ती आदमी के इतिहास में एक नई उपलब्धि है। यहां पर कुछ भी गुम नहीं है। यहां पर हर वस्तु, पात्र, तथ्य, विचार, धारणा और आदमी सब तत्त्वों को खोज लिया गया है। यहां पर शताब्दियों तक यह प्रमाणित करना कठिन है कि यहां कुछ गुम है।

फिर तालियों की दहला देने वाली गूंज से मेरा अभिनन्दन किया गया और मेरे अन्वेषण कार्य की सराहना हुई। मान्यता के तौर पर मुझे बस्ती का बुद्धिमान और प्रबुद्ध व्यक्ति, घोषित किया गया।

मुझे खुश होकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए चौराहे से भागना पड़ा।

मैं उस बस्ती की सीमा को छोड़ चुका था जहां सब कुछ तलाश कर लिया गया था और अब—उस बस्ती के समीप था जहां आदमी गुम होता और उसे ढूंढ़ना पड़ता था।

(२८ दिसम्बर १९८५ को अभिनव थियेटर जम्मू में
आयोजित कहानी गोष्ठी में पढ़ी गई)

□

कहानी

सतह से नीचे

□ सूर्यबाला

अभी थोड़ी देर पहले ही दरवाज़े की घंटी बजी थी । मैंने ही खोला । आने वाले ने अति-शिष्ट भाव से मुझे नमस्ते की और पूछा—

"विहंग जी ··· हैं क्या ?"

मैंने 'जी हां' कहकर उन्हें बिठा दिया । वापस आकर आपकी स्टडी में झांका फिर धीरे से खोल कर कहा—"कोई सज्जन आये हैं ।"

आपने 'कौन' कहकर एक बार माथे पर शिकन डाली और तत्क्षण "अच्छा-अच्छा, बिठा दिया न !" कहते हुए हड़बड़ाकर तुरंत उठ आये ।

मैंने आपकी जल्दी से उठकर बैठक की ओर जाने वाली आत्मीय जल्दबाजी देखी तो मिनटों बाद चाय भी भिजवा दी । और जैसा कि आपका आदेश रहता है चाय में शकर मिलाने खुद पहुंच गई । देखकर आपने आगंतुक सज्जन से मेरा परिचय कराया—"मेरी धर्मपत्नी सविताजी—साहित्य और कला के प्रति उतनी ही समर्पित और निष्ठावान···।"

"जितने आप···" आगन्तुक सज्जन ने वाक्य पूरा कर मुझे फिर गद्‌गद भाव से हाथ जोड़े ।

"मैं सोचता हूं, अपनी पत्रिका के विशेषांक के लिए तो आप मेरी कविता के बदले सविताजी का ही इंटरव्यू छापें तो ज्यादा बेहतर होगा । क्योंकि मेरे स्वभाव, जीवनदर्शन और रचना-प्रक्रिया पर जितने सही ढंग से सविता बोल सकेंगी, मैं खुद भी नहीं । और—वे अधिकारी भी हैं न !"

आगन्तुक ने गद्‌गद होकर कहा -- "बहुत-बहुत आभारी हूं विहंग जी, इस सुझाव के लिए—मैं शीघ्र ही अपने उप-संपादक को भेजता हूं—कल ही ठीक रहेगा ? मैं चाहता हूं जल्दी से जल्दी···" आप वापस महानता और उदारता के शिखर से मुस्कराये हैं, "इसके लिए तो भाई आप सविताजी से ही समय लीजिये क्यों सविता···?"

आगन्तुक को अपनी ओर देखता पाकर मैं बुद्धू-सी घबराई बैठी रही हूं तो आपने जोड़ा है—"कल तो हम दोनों एक सामाजिक-उत्सव में जा रहे हैं। परसों आइये, उस दिन मैं तो व्यस्त

रहूंगा। दो-तीन गोष्ठियां हैं। लेकिन सविता रहेंगी, तीन-साढ़े तीन बजे आइये···ऐं ?"

"बहुत अच्छा ··।"

कहकर आगन्तुक सज्जन लौट गये हैं। मैं अब तक हकबकी-सी यही सोचे जा रही हूं कि यह सब···यह सब क्या है···मेरा इंटरव्यू···

तब तक आप दरवाज़ा बंद कर मेरी ओर पलटे हैं और अपने खीझे, गुस्सीले स्वर में झल्लाते हैं—"अभी तुम्हें कितनी बार और यह बात याद दिलानी होगी कि कम से कम घर में आये व्यक्ति का अता-पता पूछकर तब मुझे स्टडी से बुलाया करो—मैं हर ऐरे-गैरे से मिलने के लिए यूं ही निठल्ला नहीं बैठा हुआ हूं, समझीं···!"

"लेकिन···आपने पूछा भी तो नहीं नाम आने वाले का·· तुरन्त उठ गए···"

"ओपफोह—मैं जिस आदमी को सोचकर उठा था, वह आज के साहित्य का सबसे दबंग व्यक्तित्व है। उसी के आने की बात भी थी···और यह – यह तो एक ऐसी ही लोकल पत्रिका का संपादक था···।"

"तो···आपको क्या उससे नहीं मिलना था···?"

"कम से कम इस तरह तुरत-फुरत स्टडी से भागते आकर उसकी अगवानी तो कभी नहीं करता··खैर चलो, मुझे सूझ गया; उससे तुम्हारा इंटरव्यू तय करवा दिया—लेकिन अपना मूड मारा गया।"

और आपने उखड़ते मूड के प्रतीक स्वरूप स्टडी का दरवाजा भड़ाक से बंद कर सांकल चढ़ा ली लेकिन तत्क्षण आपको याद आया—वापस दरवाज़ा खोला और भन्नाये—"अब अगर आने वाला सही आदमी आ जाये, जिसके आने की बात है तो उसे बिठाये रखकर दूसरी बेवकूफी मत कर बैठना, तुम्हारा कुछ ठिकाना नहीं···।"

मैंने हकबकी आंखों से थोड़ी देर स्टडी के बन्द दरवाज़े की ओर खिसियानी-सी होकर देखा और मुड़कर रसोई की ओर चल पड़ी हूं। आह! ईश्वर को धन्यवाद दिया कि सब्जी कढ़ाई में नीचे लगते-लगते बची। नहीं तो सब्जी जल जाने पर चाहे जितना खुरचो, फेंको, आपकी पैनी दृष्टि, नहीं, नाक फौरन भांप लेती है और आप कहने से कभी नहीं चूकते कि—"असल में आलस्य और निकम्मेपन का पूरा कोटा ही तुम्हें अलाट कर दिया है ईश्वर ने। तुम करो भी तो क्या···इस काहिली पर तुम्हारा वश नहीं···।"

"यह आपकी आदत है, आप वहशियों की तरह तेज आवाज में कभी नहीं दहाड़ते, न आम पतियों की तरह गरजते-तरजते ही हैं—बस ऐसा लगता है जैसे शब्द नहीं रोड़ों, पत्थर का एक ढेर उझला जा रहा हो कहीं।

सुबह भी ऐसा ही कुछ हुआ था। जब तक आप सोकर उठे थे, बाथरूम में रखा पानी ठंडा हो गया था। आपने उसी पथरीली थड़थड़ाती आवाज़ में कहा था—"भुलक्कड़पन और फूहड़पन तुम्हारी आदत नहीं, स्वभाव बनता जा रहा है।"

मैं सकपका गई हूं लेकिन आपको याद दिलाने की कोशिश की है—"पानी गरम ही रखा था लेकिन कल आपने ज्यादा गरम पानी की शिकायत की थी न इसलिए···"

"···तो खौलते और ठंडे पानी के बीच की स्थिति अपनी बौखलाहट में भूल गई, क्यों?"

एक बार मन में आया था कि कहूं बेशक, सात बजे और नौ बजे के बीच सोकर उठने का कोई एक समय निश्चित होता तो पानी का तापमान भी सुनिश्चित किया जा सकता था।

लेकिन जाने क्यों मैं महसूसती हूं कि आपके सामने मैं चीख-पुकार सकती ही नहीं··· कोशिश करके भी नहीं और फिर सुबह-सुबह की जरा-सी भी लापरवाही आपको कब्जियत से लेकर बदहजमी और अपच जैसे तमाम विकारों से ग्रस्त कर जाती—और उस दिन दिनचर्या को सुधारते-सुधारते मैं और भी बेदम हो जाती। ऊपर से साहित्य कुछ निहायत फड़कती पंक्तियों से जो वंचित रह जाता, वह अलग।

नहीं तो ऐसे अपच, बदहजमी और कब्जियत से निजात पाकर आप स्टडी में जाकर अपने 'कागजी' व्यापार में जुट जाएंगे। शायद कुछ इस तरह का लिखेंगे—

रिश्तों का अपनापन, ताजे गुनगुने पानी-सा
नहला-नहला जाता है।

फिर शाम को महफिल जुटेगी। ढेर-ढेर फरमाइश, वाहवाहियों के बीच आप 'आज' की लिखी तरोताजा पंक्तियां सुनाएंगे। इर्द-गिर्द बैठे इंटलेक्चुअल किस्म के लोग सिर धुन-धुन कर बाल झटक-झटककर कुर्बान जाएंगे। बीच-बीच में बैठी युवतियां, प्रशंसिकाएं आहें भरकर सिसकारी छोड़ेंगी, मैं इन सबके बीच किचेन में ट्रे पर ट्रे भर-भरकर चाय भिजवाती रहूंगी और उसी बीच किसी तरह साड़ी बदल, बाल संवार सबके बीच (आपके आदेशानुसार) मुस्कराती हुई पहुंच भी जाऊंगी।

आप फौरन बाहें फैलाकर कहोगे—"सवि! आओ भाई—कभी तो अपनी व्यस्तता से उभरो—तुम जानती नहीं—तुम्हारे बिना सब कुछ अधूरा-सा रहता है···।"

मैं जानती हूं, आपकी इस उक्ति पर सामने बैठी युवतियों, लड़कियों के चेहरों पर जा रश्क, जो कशिश झलकती है वह आपको पूर्ण तृप्त कर जाती है। वे दृष्टियां कहती हैं—काश! हम होते, हम होते, यह अधूरा-पन भर पाने के लिए···।

वे चेहरे मोहमुग्ध सम्मोहित से देखते रहते हैं—आपके सिल्क के लकदक कुर्त्ते को, एक के बाद एक करीने से संवार कर बिखेरी गई लटों को और आंखों को सुनहली गोलाइयों में बांधती ऐनक को, लोगों के दिलों में हजार-हजार विभ्रम और रहस्य पैदा करती दृष्टि···कितने यत्न से संवारते हैं आप अपने इस लकदक व्यक्तित्व को।

मैं थोड़ी देर बैठ ज़रूरत भर मुस्करा कर किसी तरह वापस उठ आती हूं।

रसोई की तमाम व्यस्तताओं के बीच भी बाहर बैठक से आती आपकी आवाज़ गूंजती रहती है—वह आवाज़ मानवता की, सहजता की, सरलता की, फूलों की, गंध की, रोशनी और चांद-सितारों की दुहाई देती रहती है। पृथ्वी पर स्वर्ग लाने के लिए सिर धुनती रहती है···और मैं केटली से चाय ढालती रसोई की खिड़की की चौखटों में फंसे स्याह आसमान को देखती रहती हूं। धुएं, धुंध, कालिख से अटे वित्ते भर आसमान को···?

एक बार बैठे-बैठे ही इतनी ज़ोर की नींद आई थी कि नींद के झोंके में जाकर बिस्तर पर सो गई थी। देर रात गए जब आपने जगाया मो हड़बड़ा कर चौंकी कम, आपका चेहरा देखकर सहमी ज़्यादा थी।

पता चला, रसोई में भूल से छोड़ा हुआ दूध बिल्ली पी गई थी—और खुला पड़ा आटा सूख कर पपड़ा गया था।

मैं भागी-भागी गई। आटा गूंथा, सब्जी दुबारा छौंकी आपके लिए और गर्म रोटियां सेक कर परोसीं···

जैसे मुझ पर बहुत बड़ा अहसान जताते हुए आपने खाया और कसे-कसे चेहरे से स्टडी की

ओर मुड़ गये। वह कसा चेहरा, वह दुत्कारती दृष्टि मुझ पर जबरदस्त लानत भेजती कहती गई थी—रात को दूध पिये बिना मैं स्टडी में अपना काम कर ही नहीं पाता। यह जानकर भी लापरवाही बरती गई—अब लिख क्या पाऊंगा, खाक···

सोचती हूं इसकी जगह अगर आप सीधे-सीधे आम पतियों की तरह गरजे-तरजे और दहाड़े होते तो कितना अच्छा होता। कम से कम मुझे अपनी बात, अपनी सफाई देने का मौका तो मिलता। मैं इस प्रच्छन्न रोष और चिरंतन उपेक्षा की गुफा से बाहर तो आ पाती। गुफा के भीतर आवाज़ कहां पनप पाती है। इसीलिए समूची ज़िंदगी मैं अपनी आवाज़ तक नहीं सुन पायी। तरस गई अपनी आवाज़ सुनने को।

कैसी होती मेरी अपनी वह आवाज़—वह फरियाद, वह अन्याय के खिलाफ की दुहाई ···क्योंकि तब मेरे पास कोई आधार, किसी अन्याय का नाम तो होता जिसके खिलाफ मैं आवाज़ उठा पाती।

तब हम और आप आमने-सामने तो रहते। आप गुस्से से पैर पटककर चीखते—मैं शायद सिसक पड़ती—

आप शायद पिघल कर मनाने आ जाते।

मैं शायद रूठकर ठुनकती·· आप शायद···मैं शायद···

शायद·· शायद···

ओह—लेकिन कहां हुआ यह सब कभी—आम पति-पत्नियों जैसी बातें कैसे होतीं हमारे बीच? मेरे पति महान् जो ठहरे! यह सब, डांटना, दहाड़ना, बहस करना, आपके व्यक्तित्व के साथ मेल कहां खाता है! इसीलिए तो शायद ताउम्र मैं आपकी महिमा और प्रतिष्ठा के कसे हुए फ्रेम पर कील की तरह ठुकती रही।

सोचती हूं यह महानता का नशा किसी तेज़ से तेज़ शराब से कम है क्या?

भीने इत्र से बसे कुर्ते और पान के रस से रचे होंठों पर अति संभ्रांत शांत, मुस्कान बिखेरते हुए जब आप चलते हैं तो निखरा हुआ गौरवर्ण और भी दमक उठता है। कितना ख्याल रखते हैं आप अपने नख-शिख का! कितने यत्न और बारीकी से संवारते हैं अपने हावों-भावों को? अब भी जहां गोष्ठी, सेमिनारों का तांता लगा रहता है, हर सेमिनार, हर गोष्ठी में जाने से पहले उतनी ही तैयारी, साज-संवार···चप्पलों पर चमचम पालिश···गले में झिलमिलाती पतली सोने की चेन···गोरी कलाइयों पर सुनहले डायल वाली घड़ी···

और इस सज्जा के साथ आत्मश्लाघा से ऊभचूभ होते हुए आप एक-एक पंक्ति झूम-झूमकर सुना रहे होते हैं कि—

चलो कहीं दूर—
स्वार्थ की कलुषता से···
रूप की कृत्रिमता से—
दूर, बहुत दूर···

नहीं जानती क्यों पर आपकी यह पंक्ति आजकल मेरे मन-मस्तिष्क को हर क्षण, रह-रहकर हॉंट किये रहती है। मैं यंत्र-चालित-सी दौड़-भागकर आपकी सारी तैयारियां पूरी करती रहती हूं लेकिन अंदर-अंदर अपने आपको निरंतर दूर होती हुई महसूस करती हूं, पता नहीं क्यों? दरअसल मैं इस वाली कविता और इस जैसी दूसरी कविताओं से घृणा करने लगी हूं। मुझे इस सबसे एकदम दूर किसी ऐसी जगह जाने की इच्छा होती है जहां कहीं

ऐसी कविताओं का अस्तित्व न हो।

अच्छा, चल दूं क्या ? अगर चली गई तो उन तमाम-तमाम अभ्यर्थना भरे वाक्यों का क्या होगा जो मेरे सामने पड़ते ही कहते हैं—ओह···आप हैं विहंगजी की सह-धर्मिणी ? कृत-कृत्य हुआ दर्शन कर। सुना कई बार था, विहंगजी के मुंह से आपके बारे में···साथ न होने पर भी वे हमेशा आपकी स्मृति साथ रखते हैं···कितनी भाग्यशाली हैं आप !

कितनी भाग्यशालिनी हूं मैं कि सैकड़ों, हजारों लोगों के दिल-दिमाग को मन्त्रमुग्ध, सम्मोहित कर लेने वाले व्यक्ति का साथ मिला है मुझे लेकिन मैं हूं कि उससे दूर होने के लिए छटपटा रही हूं। निरीह बदहवास-सी अपने आपको झिंझोड़कर कह रही हूं—चलो कहीं दूर··· चलो, भाग चलो न सब कुछ छोड़कर—बहुत दूर···

तभी स्टडी का दरवाजा खुलता है। आप कुछ फुलस्केप कागजों के सफे लिये आते हैं··· आओ इधर ज़रा···तुम्हें तो याद भी नहीं होगा··कल वह इंटरव्यू लेने वाला आता होगा।··· ये प्रश्न उसने भेजे हैं और कुछ और प्रश्न अपनी तरफ से भी मैंने बढ़ा दिये हैं। सभी के उत्तर मैंने इन दूसरे कागज़ों पर लिख दिये हैं—देखकर, समझ कर कई बार पढ़ डालो···ठीक ऐसा ही बोलना है तुम्हें, समझीं···वरना तुम्हारा कुछ ठिकाना नहीं कि क्या उल्टा-सीधा बोल जाओ। याद रखो, किसी महान, प्रबुद्ध व्यक्ति की पत्नी से जितनी अपेक्षाएं लोग करते हैं उसके दशांश तक तो पहुंचो ही सही···

मनुष्य को जितनी बड़ी उपलब्धि हो, जितना मान-सम्मान मिले उतना ही त्याग, उतनी ही निष्ठा और समर्पण की भी आवश्यकता होती है। एक शब्द भी इधर-उधर नहीं···ठीक जैसा मैंने लिखा है अपने बारे में, वैसा ही बोलना···। मैं हतबुद्धि, हैरत में पड़ी सोच रही हूं कि उपलब्धि किसकी और बलिदान किसका ? □

दिशाहीन

□ डॉ० निर्मल चोपड़ा

उसने आठ आने के चने खरीदे और चवाने लगा। चने कड़े थे—उसके जीवन के अनुभवों की तरह। इस छोटे से जीवन में उसने क्या-क्या नहीं देखा ! क्या जीवन में सदा उसे इन उलझनों के जंगल में भटकना पड़ेगा ? क्या उसे कभी मुक्ति नहीं मिलेगी—उसका गला सूखने लगा और वह पास बैठे संतरे वाले की ओर देखने लगा। काश, उसके पास एक रुपया होता तो वह भी मुंह को तर करता लेकिन उसकी जेब में तो अब केवल अठन्नी बची है—उसका क्या-क्या करेगा वह···सिगरेट या बस का किराया नहीं, अब वह नहीं जाएगा वहां—नहीं सुननी उसे रोज़ की ये झिड़कियां। पास से गुज़रती बस का हार्न भैया के आक्रोश भरे शब्दों के समान उसके कानों में चुभ गया और पहिए की तरह उसका दिमाग घूमने लगा··· "लाट साहब बने फिरते हैं, घर का काम नहीं कर सकते। इस घर में रहना है तो घर का काम भी करना पड़ेगा। नहीं तो तुम वापिस मां के पास जा सकते हो।"

"हां-हां, चला जाऊंगा मैं। नहीं रहना मुझे आपका नौकर बनकर। दो समय की रोटी क्या देते हैं, समझते हैं मुझे खरीद लिया। खुद सैर करने जाओ और मैं घर की रखवाली करूं यह नहीं होगा मुझसे, मेरी भी कुछ इज्ज़त है।"

"क्या इज्ज़त है तुम्हारी ! कौन से आफीसर लगे हो ! दो पैसे कमाते नहीं और दिमाग़ सातवें आसमान पर है। तुम मां के ना बन सके तो मुझसे क्या निभाओगे !"

"तो मेरी कोई इज्ज़त नहीं—इज्ज़त केवल उन्हीं की होती है जो कमाते हैं—कितने लालची और खुदगर्ज़ हैं आप—लानत है मेरे यहां रहने पर"—और वह दरवाज़ा पटक कर बाहर निकल आया था और गुस्से का दानव उसे पार्क के इस कोने में बिठा गया था।

यदि वह बेकार है तो इसमें उसका क्या दोष ? क्या वह चाहता है कि वह पढ़-लिखकर निठल्ला बैठा रहे—फिर क्यों बार-बार उसे ताने सुनने को मिलते हैं, उसे हीन दृष्टि से देखा जाता है—वह मन ही मन में कुढ़ने लगा और सोचने लगा कि अपने भी कैसे बदल जाते हैं। भाई तो भाई—मां भी बदल गई ?

क्या मां सचमुच बदल गई थी—हां, ऐसा उसने अनुभव किया था। उसे लगने लगा था कि मां उसकी अपेक्षा मंझले भैया का अधिक ध्यान रखती है। उन्हें दूध मिलता है तो उसे

चाय। उन्हें हर चीज़ उसकी अपेक्षा मात्रा में अधिक मिलती है। उनकी बात ध्यान से सुनी जाती है और उसकी बात पर कोई गौर नहीं किया जाता। एक दिन आवेश में उसने मां से पूछ ही लिया था—"मां, तुम समान दृष्टि से क्यों नहीं देखती बच्चों को ?" मां कुछ समझ न पाई और पूछने लगी—"क्या कह रहा है तू ?" "मैं यह कह रहा हूं कि तुम अब मुझसे सौतेलों जैसा व्यवहार क्यों करने लगी हो ? जानता हूं किस लिए—इसलिए कि तुम मंझले भैया से डरती हो—इसलिए कि वह कुछ नोट तुम्हारे हाथ में थमा देते हैं और तुम्हारा मुंह बन्द हो जाता है। तुम लालची हो मां, तुम लालची हो।"

"यह क्या बेवकूफों-सी बातें कर रहा है आज तू ! पागल तो नहीं हो गया ? मैं लालची हूं ? मां रुंधे गले से बोली—"अरे क्या-क्या करके तुम लोगों को नहीं पढ़ाया। ग़रीबी के दिनों में खुद भूखी रही और तुम्हें खिलाया। किन-किन मुसीबतों का सामना करके तुम्हें बड़ा किया ! आज यह उसी का बदला दे रहे हो ? बाप के मरने के बाद खूब इज़्ज़त करते हो मां की। फितूर भर गया है बेकारी से तुम्हारे दिमाग़ में—शैतान का निवास हो गया है वहां।"

"सच्ची बात हमेशा कडवी होती है, मां ! खूब अहसान किया मुझे बड़ा करके—फेंक देना था कहीं, गला घोंट देना था मेरा, न कोई ज़मीन न जायदाद, न कभी खुला खाया न पहना और आज उपेक्षा भी सहनी पड़ रही है।" वह कहता गया।

"यहां कुछ नहीं है तो क्यों रह रहा है यहां ? चला जा यहां से—दफा हो जा।" मां की रुलाई थम नहीं पा रही थी।

और वह बड़े भैया के साथ दिल्ली चला आया था लेकिन यहां आकर भी धीरे-धीरे उसके अस्तित्व का प्रश्न उसके सम्मुख खड़ा हो गया। बड़े भैय्या और भाभी दोनों दिन में नौकरी पर चले जाते और वह पीछे बिल्कुल अकेला रह जाता। नाश्ते के झूठे बर्तन और आसपास बिखरे कपड़े उसका मुंह चिढ़ाते। वह इन्हें उठाने के लिए झुकता तो एक भय उसका हाथ रोक देता—ऐसा करके कहीं वह लघु न हो जाए, उसका अस्तित्व लुप्त न हो जाए। उसके मस्तिष्क को एक झटका लगता और वह हाथ पीछे खींच लेता। क्या भाभी उसके आने से पहले भी बर्तन-कपड़े बिना उठाए चली जाती होगी—शायद नहीं। उसके आने पर शायद वह ऐसा करने लगी है। यह सोचते ही वह तवे पर पड़ी रोटी के समान जलने लगता और दरवाज़े पर ताला लगाकर सड़क पर निकल आता। दिल्ली की इन लम्बी-लम्बी सड़कों पर चलते हुए उसे लगता कि उसका आकार बहुत छोटा हो गया है—वह केवल मात्र एक बिन्दु है—एक चिह्न। यहां उसे कोई नहीं जानता—कोई नहीं पहचानता—वह बौना है—वह कुछ नहीं—सिगरेट फूंककर वह घर वापस आ जाता और बेड पर लेटे-लेटे अपने छोटे से शहर के बारे में सोचने लगता। कैसे सब उसे जानते थे वहां—कॉलेज का क्रिकेट केप्टन विवेक आनन्द—पढ़ाई में भी उतना ही तेज़—लड़कियों में चर्चा का विषय—"भैया-भैया, आज चित्रा और रचना में तुमको लेकर बहस छिड़ी थी कि तुम खेल में तेज़ हो या पढ़ाई में, बहन के मुंह से ये बातें सुनकर वह मन ही मन में झूमने लगता और अनेक रंगों के छोटे-छोटे ताजमहल उसकी आंखों में चमकने लगते पर ये रंगीन ताजमहल एक दिन रेत के ढेर में परिवर्तित हो गए। जब उसने देखा कि उसका नाम मेडिकल कॉलेज की लिस्ट में नहीं है तो वह पागल हो उठा। इक्यासी प्रतिशत अंक लेने पर और स्पोर्ट्समैन होने पर भी उसे सिलेक्ट नहीं किया गया। उसके हृदय में सूइयां सी चुभने लगी थीं और वह जा पहुंचा था प्रिंसिपल के घर के द्वार पर। द्वार-रक्षक ने जब उसे अन्दर जाने से रोका तो वह बम के समान फट पड़ा था—"मुझे जाने दो अन्दर। साले को देख लूंगा। इतना

मैरिट होते हुए और इण्टरव्यू अच्छा होने पर भी इसने मुझे नहीं लिया। मैं चीर दूंगा इसे। यह करप्ट पैसे खाकर हम जैसे युवकों का कैरियर खराब कर देते हैं। इन्हें खत्म कर देना चाहिए। वह आवेश में न जाने क्या-क्या कह गया था! बड़ी मुश्किल से उसके दोस्त उसे वहां से खींच लाये थे। मझले भय्या ने जब यह सुना तो उस पर बरस पड़े थे—"वहां जाने की क्या आवश्यकता थी तुम्हें। यह अच्छा हुआ कि उस समय प्रिंसिपल घर पर नहीं था नहीं तो तुम्हें अन्दर करवा देता और तुम्हारे साथ-साथ हम भी ज़लील हो जाते।

वह भरे गले से बोला था—तुम क्या जानो भैया, जिसपर बीतती है वही जानता है। अब मैं क्या करूं! बस, यहीं पर टिकी थी मेरी आशा।

"बी० एस-सी० करके कोई काम ढूंढ़ो"—भैया ने सीधा-सा सुझाव दिया था।

"नहीं"—उसने फिर आशावान होते हुए कहा—"मैं किसी न किसी तरह जाऊंगा इस लाइन में।" बहुत प्रयत्न किए उसने—खूब हाथ-पांव मारे। बाहर से फार्म मंगवाकर भरे लेकिन सब व्यर्थ। कहीं तो डोनेशन के रूप में बड़ी राशि मांगी गई थी और कहीं केवल अपने प्रदेश के छात्रों को प्राथमिकता दी गई थी।

पर उस दिन वह बहुत खुश हुआ जब बाहर के एक कालेज से उसे इण्टरव्यू के लिए बुलावा आया। वह बड़े उत्साह से भैया के पास गया - "कुछ रुपये चाहिए, भैया! कल जा रहा हूं इण्टरव्यू देने।"

"कितने रुपये चाहिए।" भैया ने पूछा।

"लगभग बारह सौ रुपये। किराए और एडमिशन आदि में तो इतने रुपये लग ही जाएंगे।"

"बारह सौ रुपये? इतने रुपये मैं इस समय कहां से लाऊंगा! मालूम है आजकल दुकान कितनी मन्दी चल रही है।"

"लेकिन मेरे कैरियर का प्रश्न है भैया—कुछ तो करना ही पड़ेगा।"

"मैं क्या कर सकता हूं, मेरे पास इस समय कुछ नहीं है, सॉरी!" भैया के इस टके-से उत्तर के प्रहार से उसके गुस्से का ज्वालामुखी फूट पड़ा—"दोस्तों के साथ गुलछर्रे उड़ाने के लिए आपके पास पैसे हैं—बाय एअर (By Air) आने-जाने के लिए आपके पास पैसे हैं—पर मेरे लिए नहीं। जानते हैं इस दुकान के मालिक केवल आप ही नहीं, मेरे और बड़े भैया का भी कुछ हिस्सा है इसमें। यह दुकान पापा की है।"

"अच्छा तो तुम्हें हिस्सा चाहिए! जाओ अदालत में और ढूंढ़ो अपना हिस्सा"—और इसके साथ ही बात वाक्-युद्ध से होती हुई हाथापाई तक पहुंची। मां ने बड़ी मुश्किल से बीच-बचाव किया और मंझले बेटे से मिन्नतें कीं कि वह उसे रुपये दे दे।

"तुम्हारे कहने से दे देता हूं इस बार लेकिन इस बदतमीज़ से कह दो कि दुबारा मेरे मुंह लगा तो मुझसे बुरा कोई न होगा।"

लेकिन चार दिन बाद ही वह लौट आया था—हताश होकर। वहां कोई उससे मैरिट में आगे था। इसके बाद वह टूट गया और बी० एस-सी० के दो वर्षों में निरन्तर टूटता रहा। उसने क्रिकेट छोड़ दिया क्योंकि उसकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी। वह अस्वस्थ रहने लगा था और बेकारी के इन दो वर्षों ने उसे तोड़कर बिखेर दिया था।

"भैया दस पैसे देना"—ये शब्द उसे उसकी सोचों से वापस जीवित क्षणों में ले आए। उसके सामने एक भिखारी खड़ा था—याचक दृष्टि से उसे देखता हुआ। दो पल उसकी आंखों

ने भिखारी को निहारा। उसे उसमें अपना ही रूप नज़र आने लगा। हां, यही तो हो जाती है उसकी दशा भी, भाइयों से पैसे मांगते समय—यही याचक दृष्टि—यही दयनीय स्थिति। उसने पैंट की जेब से पचास पैसे निकालकर भिखारी के हाथ में थमा दिए। भिखारी उसे दुआएं देता हुआ चला गया।

अब उसकी जेब उसके जीवन की तरह खाली थी—केवल मां का यह पत्र—उसने तुड़ा-मुड़ा कागज़ जेब से बाहर निकाला और पढ़ने लगा—"अपने घर लौट आओ विवेक, नरेश को तुम्हारा वहां रहना पसन्द नहीं।" तो बड़े भैया ने मां को लिख ही दिया। उसके मन में कुछ कट-सा गया—बेचारी निर्दोष मां—फिर उसका विद्रोह क्यों भड़का था मां के प्रति—नपुंसक—उसने अपने आपको धिक्कारा और पत्र वापस जेब में रख दिया। अपना घर—कौन-सा अपना ? वह तो मंझले भैया का घर है और यह बड़े भैय्या का। मां तो केवल एक क्षीण सेतु मात्र है, उसकी कोई स्थिति नहीं। उसे घबराहट-सी होने लगी। उसने आस-पास देखा, पार्क खाली हो चुका था और अन्धेरा बढ़ गया था—उसे अब चलना चाहिए—लेकिन कहां ? फिर वहीं—विवशता से उसकी आंखें भर आईं और उसने होंठ भींच लिये। इसके अतिरिक्त वह कर ही क्या सकता था—पार्क से निकलकर वह सड़क पर आ गया और लम्बे-लम्बे डग भरने लगा क्योंकि उसे अभी बहुत लम्बा सफर तय करना था। □

व्यंग्य

दांत का दर्द

☐ प्रेम जनमेजय

मुझे नहीं मालूम था कि दांत का दर्द इतना भयानक होता है, पैर की बिवाई फटने से भी ज्यादा, वैसे मेरे पैरों की बिवाई अभी फटी नहीं है, फट जाएगी। क्योंकि अनुभवियों का कहना है कि चालीस की आयु तक पहुंचते-पहुंचते व्यक्ति को सावधान हो जाना चाहिए, अनेक रोग उस पर आक्रमण करने को तैयार रहते हैं। व्यक्ति की युवा-शक्ति की ऊर्जा समाप्त हो जाती है। परन्तु मेरा राजनीतिज्ञ का ज्ञान कहता है कि व्यक्ति चालीस पार करके भी युवा होता है।

दांत के दर्द और पैरों की बिवाई फटने के दर्द में से कौन अधिक है, इसका तुलनात्मक अध्ययन मैं पैर की बिवाई फटने के बाद ही करूंगा, फिलहाल तो इतना कह सकता हूं – जाकी हुई न दांत दरदाई, वो क्या जाने पीर पराई।

उस रात हम लोग एक विवाह में गये थे। जब माल पराया हो तो मैं पेट भी पराया समझ लेता हूं। इस महंगाई के जमाने में, घर में अच्छा खाने को मिल ही कहां पाता है ! अच्छा खाने से मेरा अभिप्राय है, आइसक्रीम, मलाई-कोफ्ता, मटर-पनीर, कुल्फी, हलवा, दही-बड़े, नान, तंदूरी परांठे और भी बहुत कुछ। घर में तो व्यक्ति संतुलित आहार ही खा सकता है जिसमें मूंग की दाल, सलाद, टींडा, घीया, कद्दू, (इन्हें मेरा बेटा घास-पत्ती कहता है) मिलती है और ऊपर से ठंडा पानी। अच्छा खाना तो विवाह पर ही मिलता है। विवाह के अच्छे खाने को सुनकर ही बड़े-बड़े बल्डप्रेशरियों, मधुमेह रोगियों, गैस-पीड़ितों के मुंह में पानी आ जाता है, मेरे तो सामने था अच्छा खाना।

मुझे तो आइसक्रीम बहुत अच्छी लगती है। शादी-व्याह के मौके पर तो सबको अच्छी लगती है। जिसे देखो वही इस अंदाज़ में खा रहा होता है कि शायद फिर न मिले। लोग ऐसे टूटते हैं कि बेचारी मक्खियां भी लज्जित होकर अलग हो जाती हैं। अच्छे-अच्छे रईस आइस-क्रीम के लिए प्लेट पकड़े, भिखमंगे-से दिखाई देते हैं।

पिछले अनेक अवसरों पर मैं भी मक्खियों की तरह अलग खड़ा अपनी बारी की प्रतीक्षा करता रहा परन्तु मुझ संभ्रांत को आइसक्रीम नहीं मिली। मेरी आत्मा रात भर तरसती रही।

विवाह में इक्कीस रुपये का शगुन भी दिया और आइसक्रीम बाज़ार से लेकर खायी, धिक्कार है ऐसे जीवन पर !

पर उस रात मैं नहीं चूका। जैसे ही लोग खाने पर झपटे, मैं बिना खाना खाए आइसक्रीम पर झपटा। वहां खड़ा व्यक्ति मुझे आश्चर्य से घूरने लगा।

"आपने खाना खा लिया !"

"थोड़ा-बहुत···वो पेट खराब है न।"

"आइसक्रीम थोड़ी ही लेंगे···"

"नहीं कोई नहीं···डाल दीजिए···जितनी आप चाहें।" मैंने हकलाते हुए कहा।

"अरे हम क्या चाहेंगे, पेट आपका है।"

वह समझ गया था कि मेरा पेट खराब नहीं है। उसने मेरी आत्मा के कष्ट को समझते हुए आइसक्रीम की प्लेट मुझे थमा दी। एक प्लेट से तो दाढ़ भी गीली नहीं होती है, अतः दूसरी प्लेट के लिए मैंने आइसक्रीम की प्रशंसा शुरू कर दी। उस समझदार ने मेरा मन्तव्य समझा और मुस्कराते हुए दूसरी प्लेट मेरी ओर कर दी। मैंने प्लेट को हाथ में पकड़ते हुए 'नहीं··· नहीं' की औपचारिकता निभाई और खाने में जुट गया। परन्तु मन तो तीसरी प्लेट से भरना था। अतः मेरी पत्नी को आइसक्रीम कितनी पसन्द है, मैंने इसका शब्द-चित्र खींचना आरम्भ कर दिया। उन्होंने तीसरी प्लेट भी मेरी ओर कर दी और रावण की तरह अट्टहास किया। मैंने हें···हें···हें··· करते प्लेट ली और भीड़ में घुसकर खाने लगा। विवाह में आए बच्चों ने देखा, अंकल आइसक्रीम खा रहे हैं तो उन्होंने, "मम्मी आइसक्रीम," पापा·· आइसक्रीम" के नारे लगाते हुए, आधा खाना बीच में छोड़कर, धावा बोल दिया।

उस रात मैंने डटकर खाना खाया, आइसक्रीम खाई, पानी की जगह पेय पिया। उस रात मैं निश्चिंत था कि आत्मा नहीं भटकेगी और नींद कसकर आएगी। परन्तु आधी रात को मैं हाय ! हाय ! करता उठा।

पत्नी ने करवट बदलते हुए कहा, "क्यों, गैस बन रही है ? कहा था पेट तो अपना है, ध्यान से खाना चाहिए। उठकर दो-तीन चम्मच डाइज़ीन ले लो।"

"अरे नहीं···मेरा दांत···दांत में बहुत जोर से दर्द हो रहा है, हाय !"

"एक प्लेट आइसक्रीम और लाऊं। तब तो खाते वक्त देखा नहीं। मालूम है कि दांत खराब है···"

"तुम्हें ताने मारने की पड़ी है और यहां मैं दांत के दर्द से मर रहा हूं, हाय ! हाय !"

"अब मैं क्या करूं, घर में न तो गम-पेंट है, न लौंग। जब मेरे दांत में दर्द था तो मैं रखती थी···"

"पड़ोस में किसी से कुछ ले लो··"

"अब आधी रात को किसको जगाऊं···"

"मैं दांत के दर्द से मर जाऊंगा·· तब तो जगाओगी न···हाय ! हाय !"

पत्नी मेरे दर्द से आतंकित हो चुकी थी। इस दर्द को वह भोग चुकी है। उसकी अक्ल दाढ़ में भी ऐसा दर्द हुआ था। उसने वह अक्ल दाढ़ ही निकलवा दी। अब न दाढ़ है और न अक्ल। उसे अब कोई भी दर्द नहीं व्यापता है। अक्ल हो तो अनेक दर्द आदमी को घेर लेते हैं—देश की अखंडता का दर्द, आदमी के शोषण का दर्द, भ्रष्टाचार का दर्द, मानवीय मूल्यों के हनन का दर्द, तीसरे विश्वयुद्ध का दर्द। वह लोग अच्छे और सुखी होते हैं जो बांस को ही खतम कर

देते हैं जिससे दर्द की बांसुरी बजे ही नहीं।

परन्तु पत्नी की इस सोच से मैं चिंतित भी हूं, कल कहीं मेरे कारण पत्नी को दर्द हुआ तो वह मुझे ही निकाल देगी !

पत्नी ने पड़ोस में वधावन साहब का दरवाज़ा खटखटाया, अभी वह इतना ही बता पाई थी कि दर्द हो रहा है, मैं दर्द के कारण जोर-जोर से हाय-हाय करने लगा, पत्नी लौट आई, वधावन साहब दर्द के नाम पर दिल के दर्द को ही हाय-हाय वाला समझते हैं। उन्होंने झटपट पुन्न साहब की घण्टी बजा दी और उन्हें कार निकालने को कहा। पुन्न साहब ने मेहता साहब की घण्टी बजाकर उन्हें जल्दी नीचे आने को कहा। मेहता साहब ने अभी पिछले दिनों आत्म-सुरक्षा के लिए बंदूक खरीदी है। वह बंदूक थामे नीचे उतरे। शर्मा जी ने उन्हें उतरते देखा तो पुलिस को फोन घुमाने लगे।

सबने आकर देखा तो पाया कि खोदा पहाड़ का दर्द और निकला दांत का दर्द। पुलिस पचास का नोट लेकर टली।

सब भारतीय सरकार की तरह दर्द के लिए सुझाव देने लगे। दर्द जल्दी दूर हो जाएगा, यह आश्वासन सभी ने दिया परन्तु दर्द की दवा किसी के पास नहीं थी। हींग, लौंग, अजवाइन, पेन किलर, नैचरोपैथी, होम्योपैथी, और न जाने कितने सुझाब देकर परोपकारी अपने-अपने घर लौट गए, चाय अलग पी गए। अच्छा परोपकारी, अच्छा डाक्टर और अच्छा नेता वही होता है जो दर्द के लिए अच्छे सुझाव दे तथा दवा देने वाले से कमीशन ले।

मैंने पान वाले तिवारी जी को जगाकर लौंग ली और दर्द से कुछ चैन पाया।

मेरी पत्नी का कहना है कि दांत का दर्द 'लेबर पेन' से भी भयानक होता है। इस बारे में उसका कहना ही सही मानना पड़ेगा क्योंकि मैंने तो केवल दांत का दर्द सहा है और उसने दोनों दर्द सहे हैं। पत्नी का तर्क है कि 'लेबर पेन' से कुछ मिलता तो है, लड़का न सही लड़की ही, परन्तु दांत में दर्द होने से क्या मिलता है ! अक्ल की दाढ़ निकल जाने के बाद भी वह इतनी समझदारी की बात कह लेती है ! ऐसे लोग कितने बुद्धिमान् और समझदार होते हैं जो दर्द में से भी कुछ प्राप्त करने की तिड़कम लगाते हैं। निरीह लोग मरते रहें, लोग बमों से उड़ते रहें, अस्पताल दर्दों से चिल्लाते रहें परन्तु उस दर्द के आधार पर 'समझदार लोग' अपना झंडा लहराने के लिए जुटे रहते हैं।

खैर अगले दिन मैं दांतों के डाक्टर के पास गया क्योंकि दर्द का इलाज जितनी जल्दी हो अच्छा है वरना उसके लिए नीला-पीला आपरेशन करना पड़ता है।

दांत देखकर डाक्टर ने बताया कि अक्ल दाढ़ में कीड़ा लग गया है, उसे निकालना पड़ेगा। नहीं तो मैं आइसक्रीम नहीं खा पाऊंगा।

मैं दुविधा में हूं कि अक्ल दाढ़ निकलवाकर पत्नी के समान दुनिया के दर्द से निश्चिंत हो जाऊं और मजे से आइसक्रीम खाऊं या फिर रोगी बनकर आइसक्रीम का त्याग करूं और दर्द को भोगूं। □

दो कविताएं

अपना

□ स्नेहमयी चौधरी

बहुत आवाज़ें हैं
उसमें अपनी आवाज़ खो गई है,
दिन-रात इतनी रोशनियां हैं
कि दिखना बन्द हो गया है
इतने रंग बिखरे हैं
कि अपना सब बदरंग हो गया है
गंध इतनी फैली है
कि अपनी सुगन्ध का पता ही नहीं लगता
चीज़ें इतनी अधिक हैं
कि अपनी चीज़
खोजे नहीं मिलती हैं
इतने मकान हैं
कि अपना घर खोजे नहीं मिलता
इतने नाम हैं
कि अपना नाम भूल गया है
अपना अपना इतना है
कि अपना सब छूट गया है।

अब क्या करें
हंसें या रोएं ?
गायें या मातम मनाएं
या अपने में गर्क हो जाएं
अथवा अपने में
डूबें-उतराएं।

भागकर

वह एक छोटा बच्चा था
आठ एक साल का रहा होगा,
बहुत सारे थैले कन्धे पर लटकाए
बुड्ढों की तरह चला आ रहा था,
आंखें जैसी चमकनी चाहिएं
चमक नहीं रही थीं।

मैंने रास्ते में रोक कर
उससे पूछा
इतने थैले क्यों लिये जा रहे हो ?
उसने हर थैले का मुंह खोलकर दिखाया
मेरा मुंह खुला ही रह गया
अलग-अलग थैले में
समस्याओं के अलग-अलग टुकड़े थे
वह उनका बोझ लादकर
चल रहा है
भागता क्यों नहीं
भागकर जाएगा कहां आखिर ? □

पांच कविताएं

कैनवस और रंग

□ अशोक जेरथ

कांच हाथ से छूट गया
किरचें बिखर गईं चारों ओर
हर किरच में झांकता चेहरा पहले-सा पूरा था
अपने हिसाब से छोटा या बड़ा था।
समय पीछे छूट जाने पर ऐसा क्यों नहीं होता।
हर कांच में चेहरा वैसा क्यों नहीं रहता ?
कैसी विडम्बना है—
जिस अजनबी कांच में जब भी कभी देखा
चेहरा अपना लगा,
पर वह कांच जिसमें केवल अपना बिम्ब दीखता था
अब धुंधला आया है;
बहुत गौर से देखने पर एक छाया झलक आती है
जिसमें सायास मैं अपनी तस्वीर बुन देता हूं।
लेकिन मैं जानता हूं—
यह तस्वीर मैंने बड़े यत्न से बुनी है—
उस कैनवस पर जिसे इसका अहसास है
पर वह इस अहसास को पालता नहीं
हर बार जब भी मिलना होता है
कैनवस को अजनबी पाता हूं
फिर यत्न से अपनी तस्वीर बुन देता हूं।
मैं जानता हूं—
यह मेरा अकिंचन प्रयास है—
पर हर बार उतरे हुए रंगों को समेटकर

आंखों में पी जाना
कितना कष्टसाध्य है, कितना दुरूह है
अब और नहीं
कैनवस के अन्तर से
अपने सभी रंगों को समेट लूंगा
और उसे स्वतन्त्र कर दूंगा
ताकि वह उसमें अपने मनमाने रंग भर सके
इस तरह बनी वह तस्वीर
उसकी अपनी होगी
मेरी नहीं
यही सबसे बड़ी सांत्वना। □

पहचान का खालीपन

तुम्हारे यहां जाना एक खालीपन बो देता है
जब तुम वहां नहीं होते।
उस दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ था
तुम्हारे शीशे से झांकता
अपना चेहरा मुझे बहुत अजनबी लगा था।
कमरे की दीवार पर से
उतरे हुए देवदार के घने झोंप वाले
कैलेन्डर को ढूंढ़ता रहा
वही मात्र एक 'सीनिक व्यू' था
डिब्बे में कैद।
अलमारी में बंद-जिल्दें—बोसीदा हो आई हैं
पर कहीं भी तो तुम नहीं थे
क्या तुम अपने साथ अपने अहसास को भी
लिये जाते हो।
तुम्हारा अहसास केवल तुम्हारा नहीं
इसे तुम क्यों भूल जाते हो
कोई उस अहसास को अपनी सांसों में पाले है।
हवाओं की कशमकश ने अलमारी के किवाड़ों को
खोलकर
उमस को जो उसमें बंद पड़ी थी
इत्र के पुराने पड़ गए कतरों से
सारे कमरे को भर दिया

लगा मैं एक बार फिर
अपने को पहचान गया हूं
सोफे का वही किनारा
खिड़की के शीशे में से छनकर आती वही रोशनी
और कांच का वही गिलास
जिसमें चाय नहीं उस गरिमा का अहसास पलता है
जो मेरे और तुम्हारे बीच वातास बुन जाती है
और सामने खाट के नीचे पड़ा एक औंधा सैंडल
तुम्हारे वहां होने का अहसास दिला देता है
तुम बता सकते हो कि यह तुम्हारी पहचान है या मेरी अपनी ?

तुम्हारा आना
मन में सदा सुगबुगाहट बो देता है
हर बार एक नया निश्चय होता है
पर हर बार तुम्हारे आगमन पर यह टूट जाता है
किसका कसूर है यह !
मेरा-तुम्हारा ! या उस वातास का
जो कोई मेरे और तुम्हारे बीच बुन जाता है
अनायास कोई मेरे अन्तर में पैठ पा जाता है—
जिस पर मेरी कोई पकड़ नहीं
वह 'कोई' केवल तुम्हारा होता है
जो मुझे भी तुम्हारी ओर ले जाता है
मैं जानता हूं कि तुम उस 'कोई' से प्रभावित हो
तुम 'न-न' करती चुक जाती हो—
तुम में वह सब कुछ मेरा अन्तस घोल देता है
जो तुमने मुझमें घोलना चाहिए
वह मुझमें तुम्हें रोप जाता है
जिसे तुम्हारे जाने के बाद
मैं अनमना-सा काटता रहता हूं
अकेला—नितान्त अकेला
वास्तव में मैं अपने आप ही
कटता रहता हूं…। □

अन्ततः

अनुभवों की सघनता में
मेरा मन डूब-उतरा जाता है
कवित्वमना होने का सार्थक स्वरूप।

लेकिन जिसने अनुभव दिए हैं
वह लघुत्वप्राण : अजनबी है
मेरे अनुभव अधूरे अकेले
और एकांगी हो गए हैं
उस दीप की भांति
जिसे अग्नि की तलाश है
उष्णता अग्नि है, प्रेरणा है—
अधूरेपन का सबूरापन
तुम अग्नि हो
जो किसी को भी राख करने की क्षमता रखती है
मैं एक अधसूखा लकड़ी का ठूंठ
तुम मुझ में उष्णता भरोगी
तो मैं सुलगूंगा, धुंधवाऊंगा
तुम एक तरफ खड़े रहकर देखते रहना
मैं यूं ही धुंधवाता हुआ चुक जाऊंगा।

और राख ! तुम्हारी उष्णता की प्रतीक नहीं
मेरे सुलगने का प्रमाण होगी
तुम मेरी आवाज़ उस राख में से
ढूंढ़ते रहना □

एक सिन्दूरी शाम

यह दूसरी सिन्दूरी शाम थी
रोशनी आंवले के पेड़ों से छनकर
धब्बों में बिखरती रही
शब्द ठहर गए थे, अंक बोलने लगे थे
बीच-बीच में पत्तों के सरसराने की आवाज़
दूर···

थपकी को सहता सुस्ताया-सा
साज़
सन्नाटे को तोड़ते नहीं और गहरा देते
कुरमुराते घास में से
गोरैया की किटकिटाहट
करीब ही किसी के चलने की आहट
सोए हुए मखमली घास पर एक चीत्कार
सी···सी···सी
फिज़ा में लहराता चुप-सा सीत्कार
हाय ! और नहीं
बस ! चलें !

कोई आ न जाए
फुर्र करके गोरैया उड़ गई
सिन्दूरी उजास सिकुड़ गया था
पेड़ों की मुंडेरों पर
सहम गई चुपचाप
दूर से आती ढोलक की थाप
सन्नाटा टूट गया
मन का सम्बल रूठ गया । □

सभ्यता का अंधेरा

घर था, घर के बाहर आंगन में
बैठता था एक बूढ़ा
बाहर फर्श पर घिसती
घुंघरुओं के फलक को
बैठी बतियाती थीं नारियां
चर्खों की घूं-घूं की स्वर-लहरियों में
महकता था आंगन ।

कौओं की कांय-कांय की आवाज़
चिड़ियों की चहचहाहट
इक इक कर चुक गई ।

न कोई बूढ़ा है,

न कोई चर्खा है
न ही कोई घर-आंगन है
जहां बैठकर बतियाती थीं
पड़ोस की नारियां।
अब सब कुछ नया हो गया है
जरीबों से नापकर धरती को
फसीलों से काट दिया गया है
सब के आंगन ढक गए हैं
लेकिन
सांझ के धुंधलके में जब भी
चांद उतरता है उसमें बैठी
बुढ़िया अभी भी वही चर्खा कातती है
बुढ़िया और बुढ़ाती नहीं
लगता है जवान हो रही है
उसी की ज्योत्सना से चांद
और रुपहला हो आया है
पर मुझे लगता है कि मेरे आंगन की
सारी रोशनी वह पी रहा है
उसे अपना अन्धेरा दे रहा है
अंधियारा आंगन उसी में जी रहा है
अब औरतें मेरे आंगन में आती नहीं
चर्खे की आवाज़ भी मन को भाती नहीं
सुनता हूं मैं सभ्य हो आया हूं
लेकिन चांद ! मैंने ऐसा कब चाहा था ?

मैंने कब चाहा था कि परम्परा की रोशनी तुम ले लो
मैंने यह कब चाहा था कि
सभ्यता का अन्धेरा तुम मुझे दे दो।

आज भी जब तुम्हारे आलोकित आंगन में
बैठी बुढ़िया को चर्खा चलाते देखता हूं
तो मुझे उसकी स्वर लहरियां हुमका जाती हैं
मुझे अपना खुला आंगन स्मरण हो आता है
जिसमें एक बूढ़ा होता था
फसीलों पर बैठी चिड़ियां चहचहाती थीं
और···और···
नहीं चांद···तुमने ठीक नहीं किया
कुछ देकर सब ले लिया है।

क्या ऐसा नहीं हो सकता
कि मेरा सभ्य आंगन तुम ले लो
और बिखेर दो सभ्यता के कणों को चारों ओर
मुझे सिर्फ रोशनी में नहाया अपना आंगन दे दो
सच मानो—
मुझे चर्खा चलाती बुढ़िया बहुत भाती है
घुंघरुओं के फलक को घिसने की आवाज़
मन में कसक जगाती है
हर सुबह-शाम चिड़ियों की काकुली
हुलसा जाती है।
लेकिन मैं जानता हूं कि
तुम वह आंगन नहीं दोगे···
तुम्हें रोशनी प्यारी है···नहीं ?

तुम अन्धेरे के साथी हो
उस बुढ़िया को छोड़ना नहीं चाहते
जो कभी बुढ़ाती नहीं।

यह ज्योत्सना उसकी है
तुम्हारी नहीं।
तुम तो केवल अंधेरा फैलाते हो···
सभ्यता का अन्धेरा
और परम्पराओं की रोशनी चुराते हो।

मैं फिर से अपने आंगन की फसीलों
को काट दूंगा
ताकि तुम वहां
सभ्यता के अन्धेरे को कैद न कर सको
और मैं
धीरे-धीरे सारी रोशनी अपने आंगन में खींच लूंगा
चर्खा चलाती बुढ़िया स्वयं चली आएगी !

मुझे वह घर बहुत याद आता है
जिसके आंगन में बैठता था बूढ़ा
और पड़ोस की नारियां बतियाती···
चलाती थीं चर्खा। □

संस्मरण

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा—एक स्मृति-चित्र

☐ नरेन्द्र सिन्हा

काश ! आप नलिनजी—आचार्य नलिन विलोचन शर्मा—से मिले होते। उनके पास बैठकर किसी को ऐसा लग ही नहीं सकता था कि वह हिन्दी-जगत के ऐसे समर्थ हस्ताक्षर के साथ बैठा हुआ है जिसने गहन अध्ययनशीलता से अनुप्राणित अपनी निर्मम और निष्पक्ष समीक्षाओं तथा नितान्त बौद्धिक कविताओं से समीक्षा और काव्य के क्षेत्र को आंदोलित कर दिया है। उनसे मिलकर आपको यही लगता कि आप एक विशाल वटवृक्ष की शीतल छाया का आनन्द ले रहे हैं।

उनका स्मृति-चित्र प्रस्तुत करने बैठा हूं तो सबसे पहले उनके शांत-गंभीर स्वभाव तथा छठे दशक के मध्य के उन दिनों की याद आती है जब वह बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्य मंत्री, सम्मेलन के त्रैमासिक 'साहित्य' के सम्पादक तथा आचार्य बदरीनाथ वर्मा सर्वभाषा महाविद्यालय के प्राचार्य के रूप में बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन के बरांडे से लगे कमरे में प्रतिदिन सायं घण्टे-दो घण्टे बैठा करते। शाम का झुटपुटा होते ही अपनी भारी-भरकम काया को साइकिल रिक्शा पर लादे वह सम्मेलन भवन आते। सम्मेलन भवन उन दिनों पटना की साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया था; विशेषतः इसलिए कि हिन्दी की तीन विभूतियां उन दिनों सम्मेलन से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध थीं और प्रतिदिन संध्या समय उन तीनों के ही दर्शन वहां हो जाते थे···एक तो स्वयं नलिनजी, दूसरे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, जो उन दिनों बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंत्री थे, और तीसरे आचार्य शिवपूजन सहाय जो सम्मेलन भवन के पिछले खण्ड के छोटे-छोटे दो या तीन कमरों में सपरिवार रहा करते थे। नलिनजी के आने के पहले से ही कई नये-पुराने साहित्यकार वहां जमा होते जिनकी जिज्ञासाएं नलिनजी शांत किया करते। बोलते बहुत कम थे, जैसे एक-एक शब्द बोलने में उन्हें श्रम करना पड़ता हो। बोलते तभी जब बोलना जरूरी हो। अधिकांश समय लोगों की सुना करते।

कलफ़ किया हुआ मलमल का कुर्ता और नफीस धोती—यही लिबास था नलिनजी का। जाड़े के मौसम में ऊपर से एक लांग कोट पहना करते। चेन स्मोकर थे, एक सिगरेट से दूसरी सिगरेट जलाते, लेकिन धुआं कभी भीतर नहीं जाने देते—दिल के मरीज़ थे, डॉक्टर ने सिगरेट कम पीने की हिदायत कर रखी थी। हंसते बहुत कम थे, लेकिन भीतर रस-धार बहा करती। सरल स्वभाव के आदमी थे, छोटे-बड़े सभी से बड़ी शालीनता से पेश आते। क्रोध में तो उन्हें शायद ही किसी ने कभी देखा हो। कोई अप्रिय प्रसंग उपस्थित हो जाता तो मौन धारण कर लेते या उसे तरह दे जाते। वह व्यक्ति जो अपनी समीक्षाओं में अत्यंत निर्मम था, उसे किसी की व्यक्तिगत आलोचना से बिलकुल परहेज था।

नलिनजी पौर्वात्य तथा पाश्चात्य—दोनों साहित्यों के गहन अध्येता थे। हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में तो उन्होंने नये कीर्तिमान स्थापित किए ही, कविता के क्षेत्र में भी वह प्रपद्यवाद के प्रवर्तक के रूप में ख्यात हुए। प्रपद्यवाद का आंदोलन चलाने में प्रो० केसरी कुमार तथा श्रीनरेश उनके सहयोगी रहे, जिनके नाम के प्रथम अक्षरों के आधार पर प्रपद्यवाद को 'नकेनवाद' भी कहा गया। प्रपद्यवादी कविताएं नितान्त बौद्धिक हुआ करती थीं जो 'नकेन के प्रपद्य' और 'नकेन' के दूसरे खण्ड में संग्रहीत उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। इन कविताओं की दुर्बोधता के बारे में प्रश्न करने पर उन्हीं दिनों नलिनजी ने इन पंक्तियों के लेखक से कहा था—"मेरी कविताएं एक विशेष बौद्धिक स्तर के लोगों के लिए होती हैं।" नलिनजी के संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट उत्तर से मुझे उन दिनों संतोष नहीं हुआ था और मैंने अपनी झुंझलाहट में पटना के ही स्थानीय अंग्रेजी दैनिक 'सर्चलाइट' में अपना एक लेख प्रकाशित कराया था जिसमें मैंने साहित्य के औसत पाठक की अपनी स्थापना प्रस्तुत की थी। मैंने लिखा था कि जब नलिन जी की कविताएं मेरे जैसे व्यक्ति की समझ में नहीं आतीं जो न केवल एक ग्रेजुएट, बल्कि साहित्य का अध्येता और छोटा-मोटा रचनाकार भी है, तो प्रश्न उठता है—वह किसके लिए लिखते हैं। अपने छिछलेपन में मैंने 'अधजल गगरी छलकत जाय' मुहावरे को चरितार्थ करते हुए सोचा था कि मेरे लेख का नलिनजी पर कुछ प्रभाव पड़ेगा। मैंने अपने लेख की उनसे चर्चा करने की धृष्टता भी की। संक्षिप्त-सा उत्तर था—"देखा है।" सच, कितना सही था उनका कहना। उन दिनों मेरा बौद्धिक विकास ही कितना हुआ था? आज जब कभी उनकी रचनाओं को पढ़ता हूं तो वे समझ में आती हैं और उन्हें कविता मानने में मुझे कोई झिझक नहीं होती।

और, उनके व्रजकिशोर पथ वाले मकान की उस आम पार्टी की भी याद आती है जिससे पता चलता है कि नलिनजी ऊपर से जितना धीर-गम्भीर नज़र आते थे, भीतर से उतना ही सरस थे। जून-जुलाई के दिन थे। एक दिन सायं जब हम सभी सम्मेलन भवन में नलिनजी के साथ बैठे थे, श्री शिवचन्द्र शर्मा ने बातों ही बातों में उनसे कहा कि आपके फ्रिज में ठंडा किया हुआ आम खाये बहुत दिन हो गए। और नलिनजी ने जब वहां बैठे हुए सभी लोगों को निमंत्रित कर दिया तब शिवचन्द्रजी ने यह शर्त रख दी कि जो व्यक्ति आम-पार्टी में शरीक होगा उसे पहले उनके (श्री शिवचन्द्र जी के) आवास पर भांग छाननी पड़ेगी। सभी ने 'हां' कर दी—जो भांग खाता था, वह भी, जो नहीं खाता था उसने भी। अगले दिन सायं नलिनजी के साथ हम सभी शिवचन्द्र जी के आवास पर एकत्र हुए और सबने अपनी-अपनी शक्ति के मुताबिक भांग-सेवन किया तथा बाद में रिक्शों में लद कर नलिनजी के आवास पर आए। नलिनजी ने आम के अलावा मिष्ठान्न और चाय का भी प्रबंध किया था।

उस दिन नलिनजी ने भी थोड़ी भांग ली। मीठा खाने पर भांग का नशा और भी

खिलता है। सभी लोगों पर धीरे-धीरे नशा छाने लगा। फिर फ्रिज में ठंडा किए हुए आम भी आए। खाने-पीने से छुट्टी मिली तो नलिनजी ने ही प्रस्ताव किया कि सभी लोग अपनी-अपनी रचनाओं का पाठ करें। मजमा उनके ड्राइंग रूम में ही जुटा था। कुछ लोगों के रचना-पाठ कर चुकने के बाद बारी आई प्रसिद्ध रेडियो हास्य नाटक 'लोहा सिंघ' के रचयिता प्रो० रामेश्वर सिंह काश्यप की जो अपने कालेज-जीवन में नलिनजी के विद्यार्थी रह चुके थे। भांग के तरंग में उन्होंने अपनी चार-छह पंक्तियों की एक कविता सुना डाली जिसका शीर्षक उन्होंने 'फैमिली प्लानिंग' बताया। कमरा ठहाकों से गूंज पड़ा और हम सभी ने उनसे अपनी एक और रचना सुनाने की फर्माइश की लेकिन नशे के आलम में भी काश्यपजी को लगा कि रचना कहीं से अशिष्ट है और उसका पाठ उन्हें नलिनजी जैसे गुरुजन के सामने नहीं करना चाहिए था। हमारी फर्मायश पर पश्चाताप-सा प्रगट करते उन्होंने भोजपुरी में जो वाक्य कहा तो दुबारा ठहाके लगे। वाक्य था -- "अब ना सुनाएब। कहे के चाहतानी का और अऊर कहा जाता का (अब नहीं सुनाऊंगा। कहना चाहता हूं कुछ और कह जाता हूं कुछ और)"— इस सारे प्रकरण में नलिनजी शांत-गम्भीर बैठे रहे – निश्चल। एक मुस्कान तक नहीं रेंगी उनके चेहरे पर जैसे कुछ हुआ ही न हो। ऐसा भी नहीं कि उनकी भौंहें तन आई हों कि उनके सामने कोई अशिष्टता बरत दी गई है। शांत-गंभीर बने रहना तो उनका स्वभाव था। फिर अन्य लोगों ने रचनाएं सुनाईं और यह क्रम काफी देर तक चलता रहा।

लगे हाथ एक सत्य-कथा उनकी विशाल काया के बारे में भी, जो मैंने शिवचन्द्र शर्मा से सुनी थी, इसी कारण इसकी प्रामाणिकता पर संदेह नहीं प्रकट किया जा सकता। शिवचन्द्र जी की मंझोले कद की काया भी मोटी ही थी, लेकिन नलिन जी के जैसी भूधराकार नहीं। कभी-कभार जब दोनों एक ही रिक्शे पर बैठ जाते तब नलिनजी उनसे पूछते—"शिवचन्द्रजी, रउआ ठीक से बानी नू (शिवचन्द्रजी, आप आराम से बैठे हुए हैं न)।" और शिवचन्द्रजी भी इसी तरह उनसे पूछ लिया करते। एक बार नलिनजी के साथ शिवचन्द्रजी भी रांची गए। रांची गए ही नहीं, किसी जगह साथ-साथ एक ही साइकिल रिक्शे पर बैठकर भी गए। गंतव्य स्थान पर पहुंचने पर शिवचन्द्रजी रिक्शेवाले का भाड़ा चुकता करने के लिए जेब से पैसे निकाल उसे देने लगे। रिक्शे-वाले ने लेने से इनकार किया और पूछा— "मालिक, एतने ?" (मालिक इतना ही)। और जब शिवचन्द्रजी ने उससे कहा कि उसे उचित भाड़ा ही दिया जा रहा है तब उसने नलिनजी की ओर देखते हुए कहा—"अऊर इ लगेजवा" (और यह लगेज)। इस पर नलिनजी की क्या प्रति-क्रिया हुई, शायद मैंने शिवचन्द्रजी से न पूछा हो। वह शांत और गम्भीर ही बने रहे होंगे। अंततः उसे सामान्य से अधिक भाड़ा चुकता किया गया।

१२ सितम्बर, १९६१ का वह काला दिन भी याद आता है जब असामान्य मेधा का यह साहित्यकार दिल का दौरा पड़ने के कारण हमारे बीच से उठ गया था। सुबह-सुबह ही ख़बर चारों ओर फैल गई थी और लगभग २५-३० साहित्यकार और पत्रकार उनके आवास पर उन्हें अपनी अंतिम श्रद्धांजलि देने एकत्र हो गए थे जिनमें आचार्य शिवपूजन सहाय जी भी थे। शिवजी का वह वाक्य भुलाये नहीं भूलता। उनके दरवाज़े के बाहर खड़े हुए शिवजी ने रुंधे कंठ से कहा था—"जाना चाहिए था मुझे, चले गए आप।" हू-ब-हू यही शब्द थे शिवजी के। और, मात्र १५ महीने बाद उन्होंने भी हमसे विदा ले ली थी। नलिनजी की अर्थी उनके आवास से बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन लाई गई थी और फिर वहां से बांसघाट। सैकड़ों रोते-बिसूरते साहित्यकार और पत्रकार पीछे-पीछे चल रहे थे। शव-यात्रा को देखकर ऐसा लगता था कि

हिन्दी वाले भी अपने साहित्यकारों का सम्मान करना जानते हैं।

अगले वर्ष, उनके वार्षिक श्राद्ध के दिन पटना पत्रकार परिषद ने बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन में ही एक सभा आयोजित की थी जिसमें जैनेन्द्र कुमार, जो उन दिनों पटना में थे, शामिल हुए। जैनेन्द्रजी ने इस अवसर पर कहा था, "जहां साहित्य का प्रश्न था, नलिनजी आवश्यकता से अधिक पारखी और सशक्त थे। मनन से पूर्ण मान्यता ही उन्हें मान्य थी, परन्तु व्यक्तिगत जीवन में वह झगड़े से बचकर निकल जाते थे।···अजातशत्रु पुरुषों के लिए हमें बिहार का ऋणी होना पड़ा है। राजेन्द्र हुए तो यहां, नलिन हुए तो यहां।" शिवजी ने कहा था, "मैं नहीं जानता किसी ऐसे समर्थ साहित्यकार को जिसके मरने पर साहित्य-संसार में इस प्रकार हाहाकार मचा हो जैसा नलिन और 'निराला' के मरने पर मचा।" श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने जो श्रद्धांजलि दी उससे नलिनजी के साहित्यिक व्यक्तित्व के एक सर्वथा दूसरे पक्ष पर प्रकाश पड़ता है—युवा साहित्यकारों का मार्गदर्शन करने वाला पक्ष। 'रेणु' ने कहा था —"यदि वे न होते तो अपने पक्ष और विपक्ष के बवंडरों को मैं सहन नहीं कर सकता था। ऐसे 'रेणु' एक नहीं अनेक हैं जिनको नलिनजी ने प्रोत्साहन दिया।"

नलिनजी प्रकांड विद्वान एवं दार्शनिक महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा के पुत्र थे। उनका जन्म १८ फरवरी सन् १६१६ को पटना में हुआ था। आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने 'दिवंगत हिन्दी-सेवी' के दूसरे खण्ड में उनके साहित्यिक कृतित्व का परिचय इस प्रकार दिया है, "आप जहां शिक्षा के क्षेत्र में एक अध्ययनशील अध्यापक के रूप में प्रतिष्ठित थे वहां साहित्य के क्षेत्र में कवि, समीक्षक तथा कथाकार के रूप में आपका पर्याप्त समादर था। सर्वप्रथम साहित्यिक क्षेत्र में आपने सन् १६३२ में पदार्पण किया और उसके बाद आपकी प्रतिभा का परिचय हिन्दी-जगत को अनेक रूपों में मिला था। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित होने वाले पत्र का कई वर्ष तक सफल सम्पादन करने के अतिरिक्त आपने 'दृष्टिकोण' तथा 'कविता' नामक द्वैमासिक पत्रों का सम्पादन करके अपनी सम्पादन-पटुता की अद्भुत छाप छोड़ी थी। 'दृष्टिकोण' का सम्पादन आपने श्री शिवचन्द्र शर्मा 'अद्भुत' के सहयोग से किया था। आपकी प्रकाशित कृतियों में 'दृष्टिकोण', 'मानदण्ड', 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' (सभी समीक्षा पुस्तकें) तथा 'विष के दांत' (कहानी संग्रह) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।···आपके द्वारा सम्पादित जो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं उनमें 'पद्माभरण, 'हरिचरित', 'भारत की प्रतिनिधि कहानियां', 'निबंध मानस', 'हिन्दी की उत्तम कहानियां', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'रूपक कथा-कुंज', 'लोक-गाथा-कोश, 'लोक साहित्य-आकर—साहित्य सूची', 'हिन्दी रचना-कोश' और 'प्राचीन हस्त-लिखित पोथियों का वर्णन' (तीन भाग) आदि प्रमुख हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद द्वारा प्रकाशित 'सदल मिश्र ग्रंथावली' का प्रकाशन भी आपके ही सम्पादन में सम्पन्न हुआ था। आपने एक उपन्यास लिखने की भी योजना बनाई थी, जो क्रियान्वित न हो सकी। इसकी कुछ झांकी आपकी 'डायरी' के उस अंश से भलीभांति मिल जाती है, जो आपके निधन के उपरान्त 'साहित्य' के 'नलिन स्मृति अंक' के पृष्ठ ६७ पर 'धीरेन की भूमिका' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। आपके निधन पर 'नई धारा' ने भी एक अत्यन्त उपादेय अंक प्रकाशित करके अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी। इन दोनों विशेषांकों का सम्पादन क्रमशः आचार्य शिवपूजन सहाय, केसरी कुमार तथा ब्रजकिशोर 'नारायण' ने किया था। □

लेख

व्यक्तित्व की खोज में नारी : हिन्दी कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

□ डॉ० सत्यपाल शास्त्री

भारतीय संस्कृति की मर्यादा के अनुसार नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है। विवाह के अनन्तर पति और पत्नी दोनों का व्यक्तित्व एक-दूसरे के साथ मिलकर इस प्रकार एक हो जाता है कि उसकी पृथक् कल्पना ही कठिन हो जाती है। उस समय वह दम्पति कहलाते हैं। पतिव्रता धर्म और एक पत्नी-व्रत की कल्पना भी भारतीय संस्कृति की इसी मर्यादा का परिणाम थी। यही कारण था कि उस समय पत्नी अलग से अपना कोई व्यक्तित्व या अस्तित्व नहीं रखती थी। परन्तु इधर पश्चिम और भौतिकवाद के प्रभाव से तथा पुरुष की त्रुटियों से इस मर्यादा में दरारें आने लगी हैं। नारी और पुरुष के उस परम्परागत पुरातन सम्बन्ध की पवित्रता के आगे एक चुनौती आ गई है। इसका परिणाम यह हुआ कि नारी अपने भीतर एक प्रकार की कुण्ठा, घुटन तथा उपेक्षा का भाव अनुभव करने लगी।

हम देखते हैं कि अतीत की नारी के समान आज की नारी में हर प्रकार के वातावरण में अपने आपको व्यवस्थित करने की क्षमता नहीं है, यानी वह अब परिस्थितियों की; प्राचीन नारी के समान दास नही है। न ही वह अब पुरुष की दासी तथा समर्पिता है, वरन् अब वह उनकी मित्र है। उसे जो कुछ अभीष्ट या रुचिकर नहीं है उसके विरुद्ध वह खुला विद्रोह करने के लिए हर समय सजग तथा जागरूक है। अब वह पत्नी होकर भी अपना पृथक् व्यक्तित्व स्थित रखने के लिए आतुर है। पुरुष के साथ पत्नी रूप में रहती हुई भी वह अपने व्यक्तित्व का पृथक् अस्तित्व किस प्रकार बनाए रखे, वर्तमान नारी के सम्मुख यह एक जटिल समस्या है जिसका समाधान खोजने की आकुलता उसमें स्पष्ट लक्षित होती है।

हिन्दी साहित्य में मुन्शी प्रेमचन्द नवचेतना तथा नये युग का सन्देश लेकर आए, इसीलिए उनकी कहानियों में हम अधिकांश नारी पात्रों में पुरानी परम्पराओं से ऊब तथा खीज तथा नये विचारों के प्रति आतुरता देखते हैं। मुन्शी प्रेमचन्द से लेकर राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर वग़ैरह तक के समग्र हिन्दी-कथा साहित्य में हम नारी को इसी स्थिति के साथ

दो-चार होते देखते हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द की कहानी 'कुसुम' की नायिका पूर्णतया भारतीय परम्परा में पत्नी नारी है। वह विवाहिता होती हुई भी पति के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व खो देती है, परन्तु उत्तर में जब उसे पति की ओर से निरन्तर उपेक्षा और घृणा ही मिलती है तो उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र अस्तित्व पाने के लिए बुरी तरह तड़प उठता है और इसीलिए वह उसे मायके से अंतिम पत्र लिखकर कहती है—"आपके दिये गहने और कपड़े अब मेरे किसी काम के नहीं। इन्हें अपने पास रखने का मुझे कोई अधिकार नहीं। आप जिस समय चाहें मंगवा लें। मैंने इन्हें एक पेटारी में बन्द करके अलग रख दिया है। इसकी सूची भी वहीं रखी हुई है, मिला लीजिएगा।"[1]

कुसुम की मां जब उसे समझाते हुए कहती है कि पति देवता स्वरूप होता है तो कुसुम क्रोध में आकर उत्तर देती है—"ऐसे देवता का रूठे रहना ही अच्छा है। जो आदमी इतना स्वार्थी, इतना दागी, इतना नीच है उसके साथ मेरा निर्वाह न होगा।···मैंने स्वतन्त्र रहने का निश्चय कर लिया है।"[2] और उस दिन के बाद कुसुम अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता कायम कर लेती है।

प्रेमचन्द की एक अन्य कहानी 'वेश्या' की नायिका माधुरी यद्यपि एक वेश्या के रूप में धनिक लोगों से प्रतिदिन लाखों रुपये ऐंठती रहती है, किन्तु वास्तव में उसे वेश्या जीवन से घृणा है। इसीलिए वह दया कृष्ण से कहती है—"तुमसे हाथ जोड़कर कहती हूं कि यहां से किसी ऐसी जगह चले चलो जहां हमें कोई न जानता हो। वहां शांति के साथ पड़े रहेंगे। मैं तुम्हारे साथ सब कुछ झेलने को तैयार हूं।"[3]

स्पष्ट है कि वह दयाकृष्ण का संबल पाकर कुल-वधू बनना चाहती है। इसीलिए वह उसके मन की डांवाडोल स्थिति को भांपकर कहती है—"मैं तुमसे पूछती हूं, तुम मुझे अपनी शरण में लेने को तैयार हो? मैं सोने के महल ठुकरा दूंगी, लेकिन इसके बदले मुझे किसी हरे वृक्ष की छांह तो मिलनी चाहिए।"[4]

जब दयाकृष्ण उसे फिर भी अपनाने में आनाकानी करता है तो वह कहती है—"तुम वेश्या में स्त्रीत्व का होना सम्भव से दूर समझते हो। तुम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि वह क्यों अपने प्रेम में स्थिर नहीं होती। तुम नहीं जानते कि प्रेम के लिए उसके मन में कितनी व्याकुलता होती है और जब वह सौभाग्य से इसे पा जाती है तो किस तरह प्राणों की भांति उसे संचित रखती है।"[5]

उसके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि एक वेश्या में उसे भी एक सन्नारी का व्यक्तित्व प्राप्त करने की कितनी तीव्र तड़प तथा उत्कण्ठा होती है और जब उसे पुरुष अपनाने से झिझकता है तथा इसके विपरीत उस पर पतिता का कलंक लगा देता है, तो उसका मन पुरुष के प्रति घृणा और खीज से भर जाता है। दयाकृष्ण उसके प्रस्ताव को ठुकरा देता है तो वह पुरुष के प्रति क्रोध और खीज से भर जाती है और नारी के प्रति पुरुष के स्वार्थी मनोभावों का उल्लेख यूं करती

---

१. मानसरोवर, पृ० २६
२. वही, पृ० २४
३. वही, पृ० ४६
४. वही, पृ० ४६
५. वही, पृ० ५०

है—"पुरुष इतना निर्लज्ज है कि नारी की दुरवस्था से अपनी वासना तृप्त करता है और इसके साथ ही इतना निर्दयी कि उसके माथे पर पतिता का कलंक लगाकर उसे उसी दुरवस्था में मरते देखना चाहता है। क्या वह नारी नहीं है? क्या नारीत्व के पवित्र मन्दिर में उसका स्थान नहीं?"[१]

कुलभूषण की कहानी 'पहली सीढ़ी' की नायिका मीरा को घी के व्यापारी के मैनेजर की पत्नी के व्यक्तित्व की अपेक्षा एक्ट्रैस का व्यक्तित्व कहीं अधिक प्रिय है। इसीलिए वह अपने पति को मैनेजर के पद से त्यागपत्र दिलवाकर उस व्यक्तित्व की खोज में बम्बई पहुंच जाती है। वहां लक्ष्मी फिल्म कम्पनी के डॉयरेक्टर कांतिभाई से उसका वास्ता पड़ जाता है। उसके सौंदर्य तथा तड़क-भड़क के कारण कान्ति भाई उसे अपने जाल में फंसाने के चक्कर में पड़ जाता है। मैट्रो में फिल्म देखते हुए तथा एस्टोरिया में भोजन करते समय कान्तिभाई उसके साथ जो कमीनी हरकतें करता है, उनसे वह मन ही मन खीज उठती है। उसका मन करता है कि वह वहां से कहीं भाग जाए और फिर कभी कान्तिभाई का मुंह भी न देखे, परन्तु सिने तारिका बनने का भूत उसके सिर पर अभी भी सवार है। इसीलिए तो वह बदमाश औरत की भूमिका निभाने के लिए भी तैयार हो जाती है। रह-रहकर उसे अपने पति की याद अवश्य परेशान करती है, परन्तु वह मन ही मन निश्चय कर लेती है—"एक बार मुझे काम मिलेगा तो वह उसे कभी भी नाराज नहीं करेगी।"[२]

घर पहुंचने पर उसका पति उसे कान्तिभाई के साथ अकेले घूमने के अपराध में बुरी तरह पीटता है तब वह उससे झूठा वायदा करती है कि भविष्य में वह कान्तिभाई के पास कभी नहीं जाएगी, परन्तु उसके अन्तर्मन से निरन्तर यह ध्वनि उठती रहती है कि वह अवश्य एक्ट्रेस बनेगी और बदमाश औरत का रोल भी अवश्य करेगी। जब लोग उसे पर्दे पर देखकर उसकी प्रशंसा में हश-हशकर उठेंगे और उसके ऑटोग्राफ प्राप्त करने के लिए लालायित होंगे तो उसका अन्तरतम फूला नहीं समाएगा। अतः वहां तक पहुंचने के लिए वह अवश्य निरन्तर संघर्ष करती रहेगी।

इन्दु बाली की कहानी 'मैं दूर से देखा करती हूं' की नायिका अपने पति से असीम प्यार प्राप्त करने के बाद जब पति के व्यभिचारी हो जाने से उपेक्षिता हो जाती है तो उसे अपनी एकमात्र सन्तान अलका के होते हुए भी एक तीखा अभाव ही खटकता रहता है। वह दीपक के बिखरते व्यक्तित्व को संभालने का भरसक प्रयत्न करती है परन्तु उसे सफलता नहीं मिलती है। परिणामतः उसके भीतर विद्रोह और हिंसा की भयंकर ज्वाला भड़क उठती है और वह घर की चारदीवारी से निकलकर बाहर आ जाती है। वह सोचती है—"मैं अपना अलभ्य प्यार देकर दासी बनना स्वीकार न कर सकी। मैं घर से बाहर निकल आई। दिशा-ज्ञान भूल गई। कभी पहले निकली जो न थी। नवयुवक हर सांस मेरी तरफ देखते। मेरे अद्वितीय यौवन को निहारते। मैं सब समझती और मन में गर्वित हो जाती।···प्रथम मौका मिलते ही लुट भी गई···एक दिन बदले की भावना ने मेरा सब कुछ भस्म कर दिया···।"[३]

अलका अपने व्यक्तित्व को खंड-खंड हुआ अनुभव करती है। वह अपने पत्नी, मां, प्रेमिका

---

१. मानसरोवर, पृ० ५०

२. ललक, पृ० २७

३. मेरी तीन मौतें, पृ० ४०

के जीवन को भूल-भुलैया मानती है और वास्तविक व्यक्तित्व की तलाश में भटकती रहती है। "मैं अपने अन्तर की नारी को क्षमा न कर सकी··· मैं नारी हूं···न पत्नी···न मां···न प्रेमिका। सबका रूप देखा। सबका अपना-अपना स्वाद भी था, पर किसी में स्थिरता मैं बना न पाई। अपने ही हाथों लुट गई थी···। पत्नी बनी भूल थी, मां बनी भूल थी, प्रेमिका बनी भूल थी। जीवन ही एक भूल-भुलैया बन गया है।" और उसके उपरान्त उसे बड़ा अकेलापन, बिखरापन, टूटन और इसके ही कारण भीतर ही भीतर कुछ कचोटता हुआ महसूस होने लगता है। वह पुन: अपने वास्तविक व्यक्तित्व को कभी प्राप्त नहीं कर सकती है।[1]

यशपाल की कहानी 'कम्बलदान' में मिसेज बलूरिया को मिथ्या व्यक्तित्व प्राप्त करने की एक अटल भूख है। मिसेज नरिचा की साड़ियां, ब्लाऊज तथा सामाजिक कार्यों में उसकी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेने की प्रवृत्ति से वह मन ही मन कुढ़ने लगती है। मिसिज नरिचा द्वारा संचालित चलता-फिरता औषधालय और 'भिक्षुक शरणालय' का समाचार सुनकर वह जलभुन जाती है और फिर पति के सुझाव से उसके गोदाम में पड़े बेकार पुराने कम्बलों का दान करने के लिए तैयार हो जाती है। इस प्रकार वह झूठी प्रशंसा और दानवीरता का झूठा व्यक्तित्व प्राप्त करने में सफल हो जाती है।

यशपाल की एक अन्य कहानी 'मंगला' की नायिका मंगला समाज की उपेक्षिता नारी है। मंगला अपने पति के उपेक्षाभाव और उसकी विमाता के क्रूर व्यवहार से इतनी दुखी हो जाती है कि वह बन्सीधर पांडे के हाली शेरुआ के साथ जोगन बनने के लिए 'बागेसर' जाने को तैयार हो जाती है। वह दोनों रात के समय सफर करते हैं और दिन को शेरुआ के चचेरे भाई भोगिया लुहार के घर छुपे रहते हैं। जब वह खा-पीकर रात के समय आगे चलने को तैयार होते हैं, तो शेरुआ उसे समझाता है कि वह जोगन बनने का अपना इरादा बदल दे और उसके साथ विवाह कर ले। काफी आनाकानी के बाद मंगला शेरुआ के आगे आत्मसमर्पण कर देती है। दो-तीन दिन बाद शेरुआ मंगला को भोगिया के साथ बागेसर भेज देता है। बागेसर में दूसरे दिन ही सुबह भोगिया भी ग़ायब हो जाता है। रह जाती है जोगन के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की खोज में रास्ता भूली हुई मंगला। वह अति दुखी हो जाती है। पुरुष के हाथों बार-बार ठगी जाने पर उसे क्षय रोग हो जाता है। अस्पताल में सिर्फ गुलाब मेहतर और उसकी मां मिसरो उसकी बड़ी सेवा-सुश्रूषा करती हैं। उसे विवश होकर उनके हाथ का छुआ भोजन खाना पड़ जाता है। उधर नज़ीर तथा उसके पुत्र, शेरुआ तथा भोगिया सभी को पुलिस गिरफ्तार कर लेती है, परन्तु अदालत मंगला को मुक्त कर देती है। कहीं भी आश्रय न पाकर वह अन्ततः गुलाब मेहतर के यहां चली जाती है। ऊंची जात वालों को वह सहन नहीं होता है। अतः वे गुलाब मेहतर का घर जलाने के लिए आ धमकते हैं। मामला संगीन हो जाने पर पुलिस तथा मजिस्ट्रेट भी वहां आ पहुंचते हैं। जब मजिस्ट्रेट मंगला को वहां से चले जाने का आदेश देता है तो वह पूछती है कि 'कहां जाऊं?' तो मजिस्ट्रेट वहां एकत्र हुई भीड़ को सम्बोधित करके कहता है—कोई उसे पत्नी रूप में स्वीकार कर ले। यह सुनकर भीड़ धीरे-धीरे छंटने लगती है। यह दृश्य देखकर मजिस्ट्रेट की आंखों से भी आंसू निकल आते हैं। अन्ततः वह मंगला को विधवाश्रम में चली जाने का आदेश देकर वहां से चला जाता है। इस प्रकार मंगला द्वारा भावनावश शेरुआ के प्रति किया गया समर्पण उसे दर-दर की ठोकर खाकर बेसहारा जीवन जीने को बाधित कर देता है।

---

१. मेरी तीन मौतें, पृ० ४१

इन्दु बाली की कहानी 'पालतू' की नायिका अपने आपको पति के घर में वहां पाले हुए खरगोश, बिल्लियों और कुत्ते मिण्टू के समान अनुभव करती है। पति के रूखे व्यवहार के कारण उसे सभी स्थान पर एक विचित्र सूनापन-सा अनुभव होता है। उसका पति घर से बाहर तो सदा मस्त रहता है, परन्तु घर आते ही मौन तथा खोया-खोया रहने लगता है। उसकी इस प्रकार की स्थिति ममता के व्यक्तित्व को घुन के समान तिल-तिल खा रही है। ऐसी स्थिति में वह अपनी स्वतन्त्र मंजिल का चुनाव करने के लिए आतुर हो उठती है। वह मरना चाहती है परन्तु उसके अन्तरतम की कोई साध उसे वैसा भी नहीं करने देती है। उसकी साध है, एक बार पुनः अपने टूटते व्यक्तित्व को सम्भालकर अस्तित्व में लाने की। एक दिन रात को खरगोश-खरगोशनी को अपने बच्चों को साथ लेकर लिपटकर सोया देखकर उसका तन-बदन सिहर उठता है। उसे उसके भीतर ही भीतर कुछ दबा हुआ बाहर निकलने के लिए छटपटाता हुआ प्रतीत होने लगता है, अतः वह अपने व्यक्तित्व को बचाए रखने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। इतने में नशे में धुत्त उसका पति भी घर पहुंच जाता है। उसे बिस्तर पर लिटाती हुई ममता महसूस करती है कि मानो वह अपनी ही लाश को लिटा रही है। उसे यह भरसक प्रतीत होने लगता है कि उसके व्यक्तित्व को चारों ओर से आए प्रश्नों के तीरों ने छलनी कर दिया हुआ है।

इन्दु बाली की एक अन्य कहानी 'धरती के अंगारे' पत्र रूप में लिखी गई है। उपमा के द्वारा कल्पना को लिखे पत्र में आधुनिक नारी के व्यक्तित्व की प्राचीन नारी के व्यक्तित्व के साथ तुलना की गई है कि आज की नारी भूतकाल की नारी से सर्वथा भिन्न है। वह अब पुरुष की सम्पत्ति नहीं है और न ही वह अब मात्र उसके भोग की सामग्री ही है। अब वह न ही दासी है और न ही अन्धविश्वास में रहने वाली पतिव्रता। उपमा के अनुसार आज की नारी का व्यक्तित्व पुरुष के व्यक्तित्व से अलग अस्तित्व रखता है और वह उससे किसी भी प्रकार न्यून नहीं है। इसीलिए वह कल्पना को आगे चलकर लिखती है – 'समाज के बदलते रूप में स्त्रियां जीवन संग्राम में भी पुरुष के साथ बराबरी की स्पर्धा करती हैं। वे अब प्यार की सूनी दुकान ही खोलकर नहीं बैठी रहेगी बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ रहेगी। वह न भी रखना चाहे तो अकेली ही आगे बढ़ जाएगी। उसमें साहस है, शक्ति है। असम्भव शब्द अब उसका परिचित नहीं है। अबला भाव से दूर, बहुत दूर निकल गई है आज नारी।'[1]

स्पष्ट है कि नारी अब अपने व्यक्तित्व के निर्माण, सम्मान और अस्तित्व के लिए अब स्वयं उत्तरदायी तथा चिन्तित भी है।

मारीशस की कहानीकार भानुमती नागदान की कहानी 'अनुबन्धन' की नायिका विलास अवनीश की पत्नी और दो बच्चों की मां है। उनका विवाह हुए चौदह वर्ष हो गए हैं। विवाह से पहले विलास का सम्बन्ध अपने भाई के मित्र स्वप्निल के साथ था, जिसकी जड़ उसके हृदय के किसी कोने में अभी भी शेष है। इसीलिए स्वप्निल के पोर्ट लुई में आने की खबर पाकर वह भीतर ही भीतर सिहर उठती है। वह सोचती है कि अवनीश के साथ उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हुआ था। इसीलिए आरम्भ में उसका स्पर्श भी उसे बुरी तरह अखरता था— ''मैं कैसे उन्हें समझाती कि मन की दुनिया एक अलग दुनिया है। विवाह-वेदी की पवित्र अग्नि, मन्त्रोच्चारण और अर्थहीन रस्में उसे नहीं बदल सकतीं। उनसे पुरुष को सिर्फ सामाजिक और

---

१. मेरी तीन मौतें, पृ० २३७

शारीरिक अधिकार प्राप्त हैं।"

वह अनुभव करती है कि उसका व्यक्तित्व विभाजित स्थिति में है। इसीलिए जब स्वप्निल उसे मिलता है तो वह अवनीश और स्वप्निल के सम्बन्ध के विषय में सोचती हुई कहती है—"मेरी स्थिति अजीब थी। मैं विभाजित क्षणों में जी रही थी। स्वप्निल और अवनीश दोनों से मुझे प्रेम था। अवनीश मेरे पति थे, मेरे बच्चों के पिता। हमारे सुख, आराम और भविष्य की उन्हें चिन्ता थी। उनके प्रति मेरे प्रेम में कर्त्तव्य था, कृतज्ञता थी। स्वप्निल के प्रति भी मेरे मन में अगाध प्रेम था। उसे मैं मोह नहीं कह सकती। वह ऐसा प्रेम था जो एक औरत को मर्द से होता है। जहां समाज नहीं था, डर नहीं था, कर्त्तव्य की चिन्ता नहीं थी। आज इतने सालों के बाद भी स्वप्निल मेरे बिल्कुल करीब है तो मेरा प्यार जैसे उमड़-उमड़ कर बाहर आना चाहता है। मैं चीख-चीख कर लोगों से यह कहना चाहती हूं कि हां, स्वप्निल से मुझे प्रेम है। और सच्चे प्रेम को शादी की दकियानूसी रस्में मिटा नहीं सकतीं। यह सच है कि उसने कभी मुझे स्पर्श तक नहीं किया पर आज मेरा मन करता है कि मैं स्वयं उसका स्पर्श करूं। चूमूं, उसे अपनी बांहों में छिपा लूं। यही मेरे प्रेम की पुकार है।"

परन्तु इसके साथ ही उसके सत्संस्कार उसे सचेत करते हैं कि अब वह अवनीश की है और अब वह उसकी वस्तु किसी दूसरे पुरुष को कदापि नहीं दे सकती। लेकिन विलास जैसी नारी की विवशता है कि वह परम्पराओं का प्रतिरोध भी तो नहीं कर पाती अंततः पति के साथ रहने का निर्णय लेकर रह जाती है—"मैं भीतर से बहुत अशान्त थी और बार-बार सोच रही थी कि सब कुछ छोड़कर अभी स्वप्निल के साथ चल पड़ूं और एक नये जीवन की शुरुआत करूं, लेकिन फिर सोचती, नहीं, मैं अपना घर, अपने बच्चे, अपने पति को छोड़कर किसी दूसरे पुरुष की अनुगामनी नहीं हो सकती।" जाते-जाते जब स्वप्निल विलास के हाथों को अपने हाथों में लेने लगता है तो उसी समय अवनीश भी घर आ पहुंचता है, जो यह सब देखकर एकदम सन्न रह जाता है। विलास स्वप्निल के चले जाने के बाद बड़ा रोती है, अवनीश के पास लेटे-लेटे। अवनीश उसे क्षमा करके अपने गले से लगा लेता है।[1]

दीप्ति खण्डेलवाल की कहानी 'ये भी कोई गीत है' में निशा और राजेश, शेखर और पुष्पा, इन्द्रनाथ और दीपावली का दाम्पत्य सम्बन्ध पूर्ण नहीं है। तीनों में एक घुटन, असन्तोष और क्षोभ है। तीनों के वैवाहिक जीवन असन्तुलित हैं। इसीलिए निशा कहती है—"मैं पत्नीत्व, मातृत्व और गृहिणीत्व के सारे बन्धन भूलकर कुछ क्षणों के लिए मुक्त हो जाना चाहती हूं। मन का मृग किसी अशेष तृप्ति की कामना से फिर भटकने लगा है।"

आखिर ऐसा क्यों? क्योंकि आज की अधुनातन पत्नी अपने पत्नीत्व के कर्तव्य के प्रति अपेक्षाकृत कम सजग है। उसका झुकाव अधिकतर अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने तथा पार्टियों और क्लबों में जाने की ओर है। पति से अब वह केवल अपनी ऐश में सहयोग तथा चुप्पी चाहती है। इसीलिए उसका पत्नीत्व और मातृत्व दोनों अधूरे हैं और इन दोनों के अधूरा होने पर उसका व्यक्तित्व कैसे पूर्ण हो सकता है? व्यक्तित्व की अपूर्णता ही आज की नारी में एक गहन घुटन कुण्ठा और क्षोभ बने हुए हैं।[2]

पृथ्वीराज मोंगा की कहानी 'सुरंग' की नायिका मीरा अपने पति से इसलिए क्षुब्ध है

---

१. धर्मयुग, ४ अगस्त १९७४, (पृ० १३,१४)
२. धर्मयुग, २३ दिसम्बर, १९७४

कि वह व्यापारी होने के कारण अधिक समय बाहर ही अपने काम में व्यस्त रहता है। अतएव उसे दिन भर अकेले रहने के कारण एक उपेक्षा और घुटन का अनुभव होता है, यद्यपि उसे अपने पति हरबंस की ओर से हर प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हैं—नौकर, आलीशान बंगला इत्यादि। घुटन से मुक्ति पाने के लिए वह सुधीर से प्रेम-सम्बन्ध बना लेती है। परन्तु वह फिर भी ऐसा करने के लिए अन्तिम निर्णय नहीं कर पाती है क्योंकि यद्यपि वह हरबंस से सन्तुष्ट नहीं है तो भी वह तो उससे पूर्ण सन्तुष्ट है और उसे एक आदर्श पत्नी ही समझता है। परिणाम यह होता है कि ज्यों-ज्यों यह हरबंस से संबंध-विच्छेद करने का निर्णय करते हुए मन को पक्का करती है त्यों-त्यों वह अपने को चारों ओर से हरबंस से घिरा हुआ पाती है। एक दिन हरबंस की अनुपस्थिति में उसे आभास होने लगता है कि उसे ड्राइङ्ग रूम से, पार्क से, वेडरूम से यानी हर जगह हरबंस के मुंह से 'मीरा, मीरा' शब्द निकलता हुआ प्रतीत हो रहा है और उस दिन सुधीर के आने पर वह अपने रूखे व्यवहार से उसके लिए घर के द्वार हमेशा के लिए बन्द कर देती है।[1]

मन्नू भण्डारी की कहानी 'अकेली' की नायिका सोमा बुआ भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है। उसका पति संन्यासी हो चुका है, परन्तु यदा-कदा घर में भी आता रहता है। उसका एकमात्र पुत्र असमय ही कालकवलित हो जाता है। इस प्रकार सोमा बुआ पत्नी और मां के व्यक्तित्व से वंचित है और इसीलिए प्रतिक्षण एक भयंकर घुटन में तड़पती रहती है। ये अभाव उसके व्यक्तित्व को इस प्रकार दबा देते हैं कि मानो उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं रहता है, परन्तु फिर भी रह-रहकर उसके हृदय में अपने व्यक्तित्व को किसी दूसरे रूप में उभारने के लिए एक आन्दोलन-सा उठता है। इसीलिए वह शहर में किसी परिचित के यहां या सम्बन्धी के घर कोई भी उत्सव होने पर झट पहुंच जाती है। ऐसे अवसरों पर सम्मिलित होने से उसे बड़ा सकून तथा शान्ति मिलती है। अपने स्वभावानुसार किशोरी लाल के बेटे के मुण्डन-संस्कार के अवसर पर उसके बिना बुलाए चले जाने पर उसका पति उस पर बड़ा नाराज हो जाता है। तब वह अपनी पड़ोसन राधा से कहती है—"मेरे लिए जैसा हरखू वैसा ही किशोरी लाल। आज हरखू नहीं है, इसीलिए दूसरों को देख-देखकर मन भरमाती रहती हूं।[2]"

एक दिन सोमा बुआ के देवर के ससुराल वाले जब अपनी लड़की की शादी करने के लिए उसी शहर आते हैं तो वह भी उस शादी पर सम्मिलित होने के लिए तैयारी करने लगती है। अपने मृत पुत्र की एकमात्र निशानी अंगूठी भी बेचकर साड़ी, ब्लाउज का कपड़ा तथा सिंदूरदानी खरीद लेती है और अपने पहनने की साड़ी भी रंग लेती है, परन्तु जब काफी रात गए प्रतीक्षा करने पर भी उसे कोई निमंत्रण नहीं आता है तो वह बड़ी निराश हो जाती है।[3]

मन्नू भण्डारी की एक अन्य कहानी 'यही सच है' में दीपा का व्यक्तित्व बड़ी उलझन और डांवाडोल स्थिति में है। वह कभी निशीथ की ओर झुकती है तो कभी संजय की ओर। दीपा एक उच्च शिक्षा प्राप्त महिला है। निशीथ की बेवफाई के कारण ही तो वह कानपुर में संजय की ओर झुकती है, परंतु संजय उसके समर्पण में विश्वास नहीं करता है। उसके मन को रह-रह कर कुछ कुरेदता रहता है कि दीपा के मन में अभी भी निशीथ स्थान बनाए हुए है। वह संजय के आगे पूर्ण समर्पण करके भी उसके मन में विश्वास उत्पन्न करने में असफल रहती है। बस

---

१. धर्मयुग, १५ जनवरी, १९७४
२. श्रेष्ठ कहानियां, पृ० ६१
३. वही, पृ० ५८, ६५

यही उसके नारीत्व की पराजय है। कलकत्ता में इंटरव्यू के लिए आने पर अपनी सखी हीरा के साथ कॉफी हाऊस में उसका निशीथ से साक्षात्कार होता है और फिर निशीथ उसे इण्टरव्यू में सफल करवाने तथा नियुक्त करवाने के लिए भरसक प्रयत्न करता है और बदले में वह उसे यन्त्र चालित मशीन बनाकर अपनी इच्छानुसार होटल में रखता है और उसके साथ चलते समय उसे बड़ी बेबसी का अनुभव होता है। इसलिए वह सोचती है—"यों सड़क पर ऐसी हरकतें मुझे स्वयं पसन्द नहीं, पर आज जाने क्यों किसी की बाहों की लपेट के लिए मेरा मन ललक उठता है। मैं जानती हूं कि जब निशीथ बगल में बैठा हो, उस समय ऐसी इच्छा करना या ऐसी बात सोचना कितना अनुचित है, पर मैं क्या करूं? कितनी द्रुतगति से टैक्सी चली जा रही है। मुझे लगता है, उतनी ही द्रुतगति से मैं भी नहीं जा रही हूं—अनुचित अवांछित दिशाओं की ओर।"[1] और वह उसके साथ पहले स्काईरूम होटल और दूसरे दिन लेक पर रहते हुए भी बड़ी डांवाडोल स्थिति में है। कभी वह उसके वर्तमान अहसास के बदले उसके पिछले अपराध क्षमा करके उसे पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति में लाने लगती है, परंतु निशीथ के समर्पण में वह सोचती है—"मैं सब समझ गई निशीथ, सब समझ गई, जो तुम चार दिनों में नहीं कर पाए वह तुम्हारे इस क्षणिक स्पर्श ने कर दिया है। विश्वास करो यदि तुम मेरे हो—तो मैं भी तुम्हारी हूं, केवल तुम्हारी, एकमात्र तुम्हारी हूं।"[2] परन्तु संजय का ध्यान आते ही वह कांप-सी उठती है। वह फिर निश्चय करती है कि उसे सारी बात समझा दूंगी। उसके हृदय की अतल गहराइयों में छुपा निशीथ का प्यार कलकत्ता में उसके तीन-चार दिन के सान्निध्य से बाहर आ गया है। अब वह आगे के लिए संजय से छल नहीं करेगी। वह सोचती है, वह उसे कह देगी—"निशीथ के चले जाने के बाद मेरे जीवन में एक विराट शून्यता आ गयी थी, एक खोखलापन आ गया था, तुमने उसकी पूर्ति की। तुम पूरक थे। मैं ग़लती से तुम्हें प्रियतम समझ बैठी। मुझे क्षमा कर दो। लौट जाओ।"[3]

इस प्रकार दीपा विचित्र मानसिक स्थिति में पहुंच जाती है। जब उसे संजय के छोटे से पत्र द्वारा मालूम होता है कि पांच-छः दिन के लिए वह कटक जा रहा है तो वह एक हल्कापन अनुभव करती है और उधर निशीथ के लिखे पत्र के उत्तर की बड़े उतावलेपन से प्रतीक्षा करती है। उसकी मानसिक स्थिति फिर अत्यन्त डांवाडोल हो जाती है। वह एक दिन गली में खड़ी-खड़ी सोचती है—"लगता है जैसे मेरी राहें भटक गई हैं। मंजिल खोई है। मैं स्वयं नहीं जानती, आखिर मुझे जाना कहां है? फिर भी निरुद्देश्य चलती रहती हूं, पर आखिर कब तक यों भटकती रहूं?"[4] और वह हारकर लौट पड़ती है। घर आकर उसकी मानसिक स्थिति यथावत् डांवाडोल है। उसे महसूस होता है कि उसे भीतर ही भीतर कुछ छील रहा है। एक अजीब-सी घुटन से उसका दम घुटता जाता है। परन्तु ज्यों ही उसे निशीथ का अत्यन्त संक्षिप्त तथा रूखा-सा पत्र मिलता है, उसके हृदय का उफान ऐसे ही ठंडा पड़ जाता है जैसे उबलते दूध पर पानी का छींटा लगने से वह दब जाता है। और उसी समय उसे मुस्कराता हुआ संजय सामने खड़ा दिखाई देता है। वह एक झटके से अपनी ख्वाबी दुनिया से लौटकर उसे वैसे ही पहचानने की

---

१. श्रेष्ठ कहानियां, पृ० १३३
२. वही, पृ० १४०
३. वही, पृ० १४२
४. वही, पृ० १४४

कोशिश करती है जैसे कोई व्यक्ति अपनी खोई हुई वस्तु मिलने पर करता है और तब उसके आलिंगन में बद्ध होकर अन्तिम निर्णय कर लेती है कि—"यही सच है, वह झूठ था।" अन्ततः वह अपने व्यक्तित्व को सही दिशा देने में सफल हो जाती है।

कमलेश्वर की कहानी 'कुछ नहीं कोई नहीं' में गौरी का पुलिस के सिपाही दीवान के साथ अनुचित सम्बन्ध है जिसे दीवान का जवान पुत्र सूरज सहन नहीं करता है। इसी बात पर उसकी अपने बाप से शत्रुता हो जाती है। वह एक बार अपने बाप को इतना पीटता है कि उसे बेहोश कर देता है। वह गौरी को जाकर बार-बार नसीहत करता है कि वह दीवान को अपने पास न आने दे। गौरी उसके मदमाते यौवन से आकर्षित हो जाती है। जब दीवान एक झूठा केस बनवाकर सूरज को पकड़वा देता है तो गौरी देवी दीन परचूनी वाले को दो हजार रुपया देकर उसे छुड़वा लेती है। यह रुपया उसने एक मन्दिर बनवाने के लिए रखा था। वह उसे कई-कई दिनों के अन्तराल में मिलता है और यही नसीहत करता है कि वह दीवान को अपने पास न आने दे। उसके अदालत में पेश न होने पर उसकी जमानत जब्त हो जाती है और गिरफ्तारी वारण्ट निकलते हैं, परन्तु वह नहीं पकड़ा जाता है। एक दिन हजार रुपया फिर गौरी को भेज देता है। फिर वह मन्दिर के लिए कलश बनवाकर जब ले जा रहा था तो पुलिस उसका पीछा करती है, परन्तु वह सोने का कलश वहीं फेंककर भाग निकलता है। एक दिन गौरी को सन्देश भेजता है कि मिल जाओ, परन्तु वह नहीं आती और पत्र लिखकर अपनी बेवसी प्रकट करती है—"मैं बेबस थी। दीवान को गौरी कभी नहीं रोक सकी, क्योंकि आदमी के विना स्त्री का जीवन अधूरा है, परन्तु जब वह गर्भवती हो जाती है तो दीवान आना बन्द कर देता है और वह पत्र में लिखती है—"जब से दीवान जी को यह पता चला है तब से यहां नहीं आते। अब मैं क्या करूं? तुमने बहुत समझाया, पर मैं चूक गई। अव मेरा क्या होगा? शायद मैं छटपटा-छटपटाकर इसी घर में अकेले मर जाऊंगी और अब तो दोहरा पाप है। अकेली मर जाती तो ठीक था। खैर, भुगतूंगी। तुम्हें सौगन्ध है अगर जान-ज़ोखम में डालकर इधर आने की कोशिश की। मैं कुछ न कुछ कर लूंगी इन्तज़ाम! रुपये मेरे पास हैं।"[१]

पत्र पढ़कर सूरज आग बबूला हो जाता है और दो पिस्तौल, कारतूस की पेटी बांधकर घोड़े पर सवार होकर चल पड़ता है और आ जाता है गौरी के द्वार पर। वहां आंखें लाल करके गौरी को घूर-घूरकर देखता है। उस समय गौरी कहती है—"तो मुझे मार दो सूरज! तुम मार दो, मुझे चैन आ जाएगा जो कुछ कर बैठी हूं उसे कैसे मिटा दूं···मेरे हाथ में कुछ भी नहीं है।"[२]

स्पष्ट है कि गौरी बड़ी ही निस्सहाय और बेबस है। उसका व्यक्तित्व परिस्थितियों के कुहासे में छुपा हुआ है, जिसे वह चाहती हुई भी उभार नहीं सकती है। वह बेबस है। इसीलिए वह कहती है—"यह सोचा ही नहीं था कि इसका कल क्या होगा? इतनी अक़ल ही नहीं कि सोच सकूं। जब जो ठीक समझा, जो मन हुआ कर दिया। मेरे साथ हमेशा कुछ न कुछ हो ही गया। कभी अपने से किए कभी पराए के किए।"[३]

कितनी अबोधता, बेवसी तथा परिस्थिति के आगे हार मानने की स्थिति है यह! इस

१. श्रेष्ठ कहानियां, पृ० ७४
२. वही; पृ० ७५
३. वही, पृ० १४१

स्थिति में पहुंची हुई नारी भला अपने व्यक्तित्व को कैसे उभार सकती है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश हिन्दी-कथा साहित्य उन नारी पात्रों से भरा पड़ा है जो सामाजिक कुरीतियों और पुरुष के अत्याचारों से ऊब और खीज का अनुभव करके नव-चेतना के इस युग में सम्मानपूर्वक जीवन जीने के लिए तथा अपने व्यक्तित्व को तदनुसार ढालने की चिन्ता में सदैव अग्रसर हैं। यह ठीक है कि कुछ कहानियों में नारी पात्र अत्याधुनिकता के वातावरण में जीने के लिए तड़प रहे हैं, परन्तु इस प्रकार के पात्रों का सृजन पश्चिम की कोरी नक़ल के सिवाय कुछ नहीं हो सकता है। वैज्ञानिक युग के आलोक में भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में सृजित कहानियों के नारी पात्रों का अपने व्यवितत्व की खोज के लिए संघर्षरत होना उचित ही है। □

तीन कविताएं

लौट आया हूं

□ अशोक कुमार

तुमने चाहा
मैं लौट आया
पीलीयाइ पत्तियों से
झरे दिनों को
याद करके।

जब कुछ नहीं
चाहा/मांगा तुमने
बार-बार तुम्हारी ओर
लौटने के आकर्षण में
अपनी धुरी पर
घूम-घूम गया
पृथ्वी-सा
मैं···?

समर्पण

तुम बहती-सरकती
एक नदी
तट पर मैं खड़ा

आचमन की मुद्रा में
मौन घोलता, अपनी छाया तौलता
चुप-चुप किस भाव से
मुझे तूने किया अंगीकार
तुम्हारे भीतर भी मैं
बाहर भी मैं
घुलते हुए अस्तित्व—
समर्पण की इस प्रक्रिया का
कहां से आरंभ मानूं !

उपालम्भ

ओ पिता !
जीवन कैसे ही पहाड़ की
यात्रा होता तो
लांघ जाता
अनिश्चय और
अकेलेपन
के संदर्भों से जोड़कर
क्यों छोड़ दिया
अनन्त भीतरी यात्रा के लिए
मैं कोई
अभिशप्त
मरुथली नदी तो नहीं था। □

साक्षात्कार

लेखकीय विकास की बाधा : प्रतिबद्धता

□ रामजी तिवारी

रामजी तिवारी : डॉ० यादव ! आप यह बताने की कृपा करें कि आपने कब से और किस विधा में लिखना आरम्भ किया ?

आनन्द यादव : तिवारी जी ! लिखना तो मैंने प्रायमरी कक्षा में ही आरंभ कर दिया था। बात यह थी कि तीसरी-चौथी कक्षा में पढ़ते हुए मुझे कविताएं बड़ी जल्दी याद हो जाती थीं और उन्हें बड़े चाव से हाव-भाव के साथ सस्वर पढ़ लेता था। मेरे एक शिक्षक श्री न० वा० सौन्दलगेकर मेरे इस गुण के कारण मेरे प्रशंसक थे। वे मुझे दूसरी कक्षाओं में भी कविता के आदर्श वाचन के लिए ले जाते थे। कविताओं को पढ़ते-पढ़ते मैं खुद भी कुछ पंक्तियां जोड़ने लगा। इस प्रकार मेरे लेखन का आरंभ कविता से ही हुआ। यह दूसरी बात है कि आज उन्हें कविता कहा भी जाएगा या नहीं।

रामजी : यह तो एक सुखद आश्चर्य है कि आप चौथी कक्षा में ही कवि हो गए। अब आप यह बताएं कि आपकी पहली रचना कौन-सी प्रकाशित हुई ? और उसका आप पर तथा पाठकों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

आनन्द : मेरी कोई एक रचना नहीं प्रकाशित हुई बल्कि 'हिरवे जग' नाम का मेरी कविताओं का संग्रह सबसे पहले १९६० में प्रकाशित हुआ। हुआ यह कि महाराष्ट्र राज्य सरकार ने पुरस्कार की घोषणा की थी। अध्यापकों और मित्रों के प्रोत्साहन से मैंने भी अपनी आरंभिक कविताओं में से छांटकर चालीस कविताओं को हाथ से लिखकर भेज दिया। संयोग से मेरा संग्रह पुरस्कृत हो गया। पुरस्कार की घोषणा मेरे लिए निश्चय ही बड़ी उत्तेजक थी। मित्रों की प्रशंसाएं मिलीं, परिवार के लोगों की दृष्टि में भी मेरा सम्मान बढ़ा। पुस्तक रूप में छप जाने पर इन्हें मेरी अपेक्षा से अधिक प्रशंसा मिली। लोगों ने उसमें अनेक उपलब्धियां खोज लीं। इसका यह प्रभाव अवश्य हुआ कि मेरे भीतर आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ।

रामजी : डॉ० यादव आपने जिन कविताओं पर पुरस्कार प्राप्त किया उन कविताओं की प्रेरणा-भूमि क्या थी ?

आनन्द : मेरी कविताओं की प्रेरणा वस्तुतः मेरी मानसिक प्रतिक्रिया रही है। मैं मूल में ग्रामीण परिवेश का व्यक्ति हूं और मेरी प्रत्येक विधा की रचना में प्रधान रूप से ग्रामीण परिवेश ही आया है। जब मैं माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों, ग्राम्य जीवन संबंधी कविताओं को पढ़ता था तो मुझे लगता था कि ये कविताएं ग्राम्य जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत नहीं करतीं। उनमें ग्राम्य जीवन का बाह्य दृश्य तो प्रस्तुत हो जाता है किन्तु उसकी आंतरिकता उनमें नहीं आती। इसी प्रतिक्रिया में मैंने कविताएं लिखीं और मेरी कविताओं में इसी आंतरिकता के कारण नवीनता पैदा हुई। मेरे पुरस्कृत संग्रह की जो प्रशंसाएं की गईं उनमें इस नये मोड़ की ओर प्रायः सभी ने इशारा किया।

रामजी : डॉ० यादव ! आप प्रादेशिक साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर माने जाते हैं और आपने स्वयं भी बताया कि आपके लेखन में ग्रामीण जीवन की अनुभूतियां ही केन्द्रीय तत्त्व के रूप में वर्तमान रही हैं। इस संबंध में हम जानना चाहते हैं कि ग्रामीण साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा को आपने किस रूप में स्वीकार किया और उसके किस अंश को अस्वीकार कर दिया ?

आनन्द : मराठी में मुझसे पहले सी० म० माटे, वि० द० घाटे, व्यंकटेश माडगूडकर जैसे लेखक आंचलिक जीवन का चित्र प्रस्तुत कर रहे थे। गंगाधर गाडगिल, अरविंद गोखले, पू० भा० भावे की कहानियां प्रकाशित हो रही थीं। इन लेखकों को पढ़ते समय मैंने अनुभव किया कि इनमें कलावादी दृष्टिकोण का आग्रह अधिक था। प्रायः सभी लेखकों में शहरी जीवन और मध्यवर्गीय जीवन मूल्यों पर अधिक बल था। उनके सामने पाठक वर्ग भी मध्य वर्ग का था। इसलिए भाषा और भाव दोनों स्तरों पर मध्य वर्गीय नागर बोध ही प्रधान था। केवल ग्राम्य चरित्रों के संवादों में ग्राम्य भाषा का प्रयोग किया जाता था। इस लेखन में ग्रामीण अंचल के यथार्थ के स्थान पर मनोरंजन का भाव अधिक था। केवल सी० म० माटे और विभावरी शिरूरकर में यथार्थ के कुछ चित्र मिलते थे। इस परंपरा में लिखे गये साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उससे ग्रामीण जीवन का आंतरिक यथार्थ अछूता रह जाता था। मैंने इस स्थिति को अस्वीकार कर दिया। मैंने अनुभव किया कि ग्राम्य जीवन-बोध की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए ग्राम्य भाषा का अपनाया जाना अनिवार्य है। स्वयं ग्रामीण होने के कारण मेरे मन में ग्राम्य जीवन के गहन बोध के साथ उसके प्रति आत्मीयता का भाव भी था। इसीलिए मैंने उसे मनोरंजन का साधन न बनाकर उसकी आंतरिक संवेदना को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया। नागर भाषा के निवेदन अथवा उसकी सूचना-धर्मिता को छोड़कर मैंने ग्रामीण अंचल के किसान जीवन से सीधा संवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया। मेरा ध्यान कलागत उपलब्धि से अधिक जीवन के यथार्थ को पकड़ने की ओर रहा। परिणामस्वरूप मैंने ग्रामीण साहित्य के लिए नये कथ्य, नये शिल्प और नयी भाषा की प्रतिष्ठा की। यही कारण है कि मेरे कुछ आलोचकों

ने घोषित किया कि 'आनन्द यादव' ग्रामीण साहित्य का नया घराना प्रस्तुत कर रहे हैं।"

रामजी : आपने मराठी के आंचलिक साहित्य में अनेक प्रयोग किए हैं और ग्राम्य जीवन की यथार्थ संवेदना को पकड़ने का प्रयत्न किया है। इस संदर्भ में हम आपके प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास 'गोतावड़ा' के संबंध में कुछ जानना चाहेंगे। कृपया बताएं कि इसका मूल कथ्य क्या है? और इसमें कल्पना और यथार्थ का क्या अनुपात है?

आनन्द : 'गोतावड़ा' का लेखन मैंने सन् १९७० में किया और उसका प्रकाशन १९७१ में हुआ। इसका कथ्य कुछ व्यामिश्र है। इस काल में मैंने अनुभव किया कि विकास के नाम पर आने वाली अनेक योजनाओं और आधुनिक यंत्रों के उपयोग से ग्राम्य जीवन में उच्चवर्ग को ही लाभ हो रहा है। भूमिहीन मज़दूरों, रस्सी बुनने, सूत कातने, लकड़ी काटने आदि छोटे-मोटे व्यवसायों में लगे लोग साधनहीन होकर निराधार हो गए हैं। यांत्रिकता ने मनुष्य और प्रकृति के संबंध में भी दरार डाल दी। दुख की बात यह है कि आधुनिक विकास को तो हम जी भरकर सराहते हैं लेकिन उन लोगों पर हमारी दृष्टि नहीं जाती जो इस विकास के परिणाम से और भी विपन्न हो जाते हैं। गोतावड़ा में एक साधारण-सी घटना है। खेत पर एक ट्रैक्टर आने वाला है। यह ट्रैक्टर आधुनिक यांत्रिक व्यवस्था का प्रतीक है। इस ट्रैक्टर से प्राचीन व्यवस्था और ग्राम्य परिवेश के प्रत्येक प्राणी पर होने वाले परिणाम का चित्रण है। आपने जो यथार्थ और कल्पना के अनुपात का प्रश्न पूछा है उसके संबंध में मैं कहूंगा कि रचना-व्यूह और पात्रों के नाम को छोड़कर उसका सब कुछ यथार्थ अनुभव पर आधारित है।

रामजी : डॉ० यादव! आप मराठी के आंचलिक साहित्य का नेतृत्व कर रहे हैं। आप की दृष्टि में आंचलिक साहित्य का आदर्श स्वरूप कैसा होना चाहिए और मराठी में उसकी प्रगति कहां तक संभव हो पाई है?

आनन्द : देखिए, ग्रामीण साहित्य का भी एक इतिहास है। मराठी में उसके सशक्त आंदोलन का सामाजिक और सांस्कृतिक कारण है। मराठी साहित्य में शहरी जीवन की ही अधिकता रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक मराठी साहित्य नगरों के सफेदपोश लोगों तक ही सीमित रहा। किन्तु स्वातंत्र्य प्राप्ति के पश्चात समाज के सभी स्तरों पर जागरण की लहर फैली। परिणामस्वरूप ग्रामवासियों ने अनुभव किया कि प्रवहमान साहित्य धारा में उनका प्रतिबिंब नहीं दिखाई पड़ता। अतः उन्हें स्वयं अपना साहित्य लिखना चाहिए, साहित्य के माध्यम से अपने ऊपर होने वाले अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ना चाहिए। यह भी अनुमान किया गया कि हमारी कृषि प्रधान संस्कृति को अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य भी कृषक जीवन पर आधारित होना चाहिए। यह बात विशेष बल देकर कही जाने लगी कि अपना वास्तविक साहित्य अन्ततः नेटिव ही होगा। महाराष्ट्र में इसके लिए संगठित आंदोलन आरंभ हुए। प्रांतीय स्तर पर अब तक पांच सम्मेलन हो चुके हैं। जिला और तालुका स्तर

पर तो अनेक सम्मेलन हो चुके हैं। आंचलिक साहित्य के तरुण समीक्षकों की एक टीम भी तैयार हो गई है। महाराष्ट्र के तीन विश्वविद्यालयों ने आंचलिक साहित्य को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया है। समीक्षा की चार स्तरीय पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। मेरे प्रकाशक 'मेहता पब्लिशिंग हाउस' ने आंचलिक जीवन पर आधारित अनेक तरुणों के कथा संग्रह, निबन्ध संग्रह, काव्य संग्रह और उपन्यास प्रकाशित किए हैं। अनेक स्पर्धाएं आयोजित की गई हैं। 'बली राजा' नामक मासिक इस आंदोलन का मुख पत्र है। आपको तो पता ही है कि महाराष्ट्र में 'दीवाली अंकों' की परम्परा है। अनेक दीवाली अंक निकलते हैं। मैं स्वयं जहां तक संभव हो पाता है व्यक्तिगत रूप से इनके सम्पादकों से मिलकर नये लेखकों के साहित्य को इन अंकों में प्रकाशित करवाता हूं।

जहां तक मेरे संतोष का प्रश्न है मैं कहना चाहूंगा कि यद्यपि इस दिशा में पर्याप्त कार्य हो रहा है। किन्तु मैं उससे पूरी तरह संतुष्ट नहीं हूं। अभी भी उसमें परिष्कार और परिपक्वता की आवश्यकता है। मेरा अनुमान है कि एकाध दशक के भीतर स्थिति काफी अच्छी हो जाएगी।

रामजी : आपका आरंभिक जीवन गांव में बीता और अभी भी आप गांव से जुड़े हुए हैं लेकिन अब आप पूना जैसे नगर में रह रहे हैं। क्या गांव से नगर में आ जाने से आप पर कुछ विशेष प्रभाव पड़ा ?

आनन्द : देखिए तिवारी जी ! मैं तो पहले भी गांव वाला था और आज भी अपने को गांव वाला ही मानता हूं। इतना अवश्य है कि पहले नगर वालों के सामने एक प्रकार की हीन ग्रंथि या संकोच का अनुभव होता था, अब नहीं होता। ऐसा देखा जाता है कि शहर आने पर लोग प्रायः संयुक्त परिवार के प्रेमपूर्ण संबंधों को भूल जाते हैं। वे गांव के संबंधों के साथ वहां की जीवन प्रणालियों की भी उपेक्षा करते हैं। मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसके उल्टे शहर आने पर गांव के प्रति मेरा मोह और अधिक बढ़ गया। जहां मेरी साहित्य की समझ बढ़ी, आत्मविश्वास बढ़ा वहीं पर गांव के जीवन की पारंपरिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक जटिलताओं को समझने की दृष्टि भी साफ हुई। मैं नियमित रूप से गांव जाता रहता हूं। मैं आपसे विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि नगर में आने से मेरी साहित्यिक चेतना पर कोई भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि मैं अनुभव करता हूं कि यहां से मैं गांव को और भी पूर्णता से देख पा रहा हूं।

रामजी : आपके 'नटरंग' उपन्यास की मराठी पाठकों और समीक्षकों में बड़ी चर्चा हुई है। अनेक दृष्टियों से यह एक सर्वथा भिन्न रचना है। इस प्रकार का कथानक आपको कहां से मिला और इसमें आप पाठक को क्या संदेश देना चाहते हैं ?

आनन्द : 'नटरंग' मेरा दूसरा उपन्यास है। 'नटरंग' अर्थात् नट के विविध रंग। इसका कथानायक कक्षा सातवीं तक पढ़ा हुआ एक लोक कलाकार है। आपको तो पता ही है कि 'तमाशा' महाराष्ट्र का एक अतिप्रचलित लोकनाट्य रूप है। इसका नायक मातंग समाज (महाराष्ट्र में रस्सी बुनने का काम करने वाली

एक दलित जाति) का व्यक्ति है। तमाशा देखते-देखते वह अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी तमाशा मंडली बनाने में सफल हो जाता है और अपने अभिनय कौशल से प्रसिद्ध भी हो जाता है। स्त्रीपात्र न मिलने के कारण वह 'नाचा' अर्थात् स्त्रीपात्र के रूप में काम करता है। गांव के दुष्ट उसे पुंसत्वहीन समझ कर उससे बलात्कार करते हैं। गांव की संकीर्ण राजनीति के कारण उसकी मंडली का सारा सामान जला दिया जाता है और जीवन भर की उसकी कला-साधना खाक हो जाती है। आपने जो यह पूछा कि यह कहां से मिला तो मैं आपको बताऊं कि इस प्रकार की घटनाएं तो गांवों में प्राय: घटती रहती हैं। मैंने इसे भी अपने अनुभव से ही लिया है। केवल अलग-अलग घटनाओं को एक साथ जोड़ दिया है।

रामजी : डॉ० यादव ! केवल इस घटना को लोगों के सामने रखना मात्र आपका उद्देश्य नहीं हो सकता। क्या आप लोक कलाकारों की कला-साधना के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को प्रकाशित करना चाहते थे ?

आनन्द : तिवारी जी ! आपका यह अंदाजा बिल्कुल सही है। मैंने इसमें लोक कलाकार के संघर्षों और उनकी कला-साधना की कारुणिक परिणतियों को रेखांकित करना चाहा है। मैं व्यावहारिक जीवन और कला-साधना में अंतर मानता हूं। जिस प्रकार पुरुष प्रकृति के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है उसी प्रकार कलाकार अपनी कलागत अनुभूति कला के माध्यम से व्यक्त करता है। उनमें शिव और शक्ति का संबंध होता है। तमाशे में 'नाचा' की भूमिका कलाकार की अभिनय कला की श्रेष्ठ उपलब्धि है। लेकिन स्वार्थी समाज उसे भी अपनी कुत्सित और स्वार्थी दृष्टि से देखता है। 'नाचा' के प्रति अन्याय और उसकी यातना कला का सामूहिक अपमान है। कला का अवमूल्यन और शोषण भी इसमें दिखाया गया है। वस्तुत: मैंने इसमें कला, कलाकार और समाज के यथार्थ संबंधों को खोजने का प्रयत्न किया है।

रामजी : आपका 'माऊली' उपन्यास इन दोनों उपन्यासों से बिल्कुल हटकर है। इसमें आदमी से अधिक बिल्लियां हैं ? आपने इसमें किस दिशा में प्रस्थान किया है ?

आनन्द : इस उपन्यास से जुड़ी एक घटना है। हुआ यह कि मैं डार्विन की पुस्तक 'उत्क्रान्तिवाद' पढ़ रहा था। उसमें एक स्थान पर पढ़ा कि धरती के सभी प्राणियों में कुछ न कुछ विकास अवश्य हुआ। किन्तु बिल्लियों की आदिम प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं। यह सूचना मुझे कुतूहलपूर्ण लगी। मैं सोचने लगा कि सभ्यतम मानव समाज और अपनी आदिम अवस्था में अपरिवर्तित बिल्ली के निरंतर साथ का रहस्य क्या है ? साथ ही यह विचार भी आया कि बिल्ली के सूक्ष्म अध्ययन से सृष्टि के आदिम रूप को समझा जा सकता है। मुझे यह भी लगा कि मानव-सभ्यता के विकास क्रम को भी समझा जा सकता है। फिर मैंने एक बिल्ली पाल ली। साढ़े तीन वर्षों में इस बिल्ली-कुटुंब सदस्यों की संख्या सात हो गई। मैं उनके स्वभाव, स्वर, संबंध आदि का निरीक्षण करता रहा और डायरी में लिखता रहा। उन दिनों मेरे बहुत से साहित्यिक मित्र मुझसे अधिक मेरी बिल्लियों को देखने आया करते थे। इसी डायरी के

आधार पर यह उपन्यास लिखा गया।

रामजी : आप यह तो बताएं कि बिल्लीपालन की कठिन तपस्या से आपने क्या निष्कर्ष निकाले ?

आनन्द : 'माऊली' का मराठी में अर्थ होता है आदि माता। बिल्ली को भी उसकी आवाज़ के कारण 'माऊ' कहते हैं। मैंने बिल्ली को 'प्रकृति' और मानव समाज को संस्कृति का प्रतीक माना है। मैं यह मानता हूं कि प्रकृति और संस्कृति में सम्यक् संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। संस्कृति के पीछे पड़ा रहने वाला मनुष्य प्रकृति से दूर हो जाता है। हमारी संस्कृति की अनेक अवधारणाएं भी मेरी दृष्टि में मिथ्या हैं। आज के पितृसत्ताक समाज में मातृशक्ति की अवमानना हो रही है। नारी भी आदि माता है। उसके मूल स्वातंत्र्य की रक्षा के बिना मानव संस्कृति अपूर्ण रहेगी। नारी को संतति को जन्म देने का मुक्त अधिकार अवश्य मिलना चाहिए। मैंने उसमें निष्कर्ष दिया है कि मन की आदिम बिल्ली को मारने का पाप काशी में भी नहीं छूटता।

रामजी : कविता की ही बात फिर से करें। आप पर आरम्भ में मर्ढेकर का प्रभाव था किन्तु धीरे-धीरे आप उससे मुक्त होते गए। आप इस प्रभाव से क्यों और कैसे मुक्त हुए ?

आनन्द : आपका यह कहना ठीक है कि आरम्भ में मुझ पर मर्ढेकर का प्रभाव था। सच बात यह थी कि १९५० और १९६० तक के कालखण्ड में मर्ढेकर की बड़ी चर्चा थी। उनके सौन्दर्य शास्त्र और काव्य दोनों की चर्चा मराठी साहित्यिक समाज में आम बात थी। मराठी का विद्यार्थी होने के कारण मुझ पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। हमारे प्राध्यापक भी मर्ढेकर की चर्चा बड़ी गंभीरता और आदर से करते थे। १९६१ में मैं प्राध्यापक हो गया था। स्वतंत्र रूप से सोचने-विचारने लगा था। इस समय तक मर्ढेकर के सौन्दर्य शास्त्र की सीमाओं की भी चर्चा होने लगी थी। उसकी सीमाओं का प्रत्यक्ष बोध भी होने लगा था। मर्ढेकर की वैयक्तिकता और समाज निरपेक्षता का भी मराठी साहित्यकारों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इसी परिस्थिति में मैं भी धीरे-धीरे-उस प्रभाव से मुक्त होता गया।

रामजी : एक प्रश्न हम आपकी प्रतिबद्धता के संबंध में पूछना चाहते हैं। मेरा मतलब यह है कि आप न तो मार्क्सवादी हैं और न ही व्यक्तिवादी तो आपकी प्रतिबद्धता किसके प्रति है ?

आनन्द : मेरी प्रतिबद्धता वाङमय के प्रति है। मैं जीवन के निकट अपनी मूल्य कल्पना लेकर नहीं जाता। यथार्थ जीवन में व्याप्त विभिन्न मूल्यों के संघर्ष को पकड़ने का ही प्रयत्न करता हूं। इस प्रक्रिया में दलित, शोषित और पीड़ित वर्ग के लोग मुझे अधिक आकर्षित करते हैं। किसी 'वाद' अथवा सीमित दृष्टि के प्रति प्रतिबद्धता लेखकीय विकास की सबसे बड़ी बाधा है।

रामजी : डॉ० यादव ! आप तो मराठी की विभिन्न विधाओं में लिखने वाले अनुभवी लेखक हैं। क्या आप मुझे बताएंगे कि मराठी के लेखन व्यवसाय में कौन से धोखे हैं, आप उनसे अपने को किस प्रकार मुक्त कर पाते हैं ?

आनन्द : आप इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मेरे नाम के साथ आंचलिक लेखक का लेबल लग गया है। यद्यपि मैं साहित्य में इस प्रकार के भेद को स्वीकार नहीं करता। मैं आपको आंचलिक अथवा ग्रामीण साहित्यकारों के सम्बन्ध में ही कुछ बताऊंगा। आंचलिक लेखकों को प्रसिद्धि अपेक्षाकृत शीघ्र मिलती है। चित्रपट भी ऐसी ही कथाओं को अधिक पसंद करते हैं। सिनेमा में ख्याति और पैसा दोनों हैं। लोकनाट्य भी बहुत लोकप्रिय है। परिणाम यह हुआ कि मराठी के अधिकांश ग्राम्य लेखक शीघ्र ही सुखवादी हो गये, उनकी अनुभव संपदा समाप्त हो गई। जीवन के यथार्थ अनुभव से दूर होने पर भी वे लेखन करते रहे। पहली पीढ़ी के प्रायः सभी लेखकों के साथ यह धोखा हुआ। मैंने भी मराठी के 'पाठलाग' चित्रपट के लिए गीत लिखे थे। लेकिन ऐसे कटु अनुभव हुए कि फिर हिम्मत नहीं की। एक लोकनाट्य भी लिखा किन्तु मेरे सौभाग्य से वह कभी मंचित नहीं हुआ। मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि मैं इन सस्ते आकर्षणों से अपने को बचा सका और अपनी रचनाभूमि, ग्रामीण परिवेश से आज तक समीप से जुड़ा रहा।

रामजी : अब मैं आपसे एक निजी सवाल करना चाहता हूं। आपने विभिन्न विषयों पर कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में प्रभूत लेखन किया है। आपको पर्याप्त यश और सम्मान भी मिला है। किन्तु आप स्वयं अपने लेखन से कहां तक संतुष्ट हैं? और यदि कोई असंतोष या बेचैनी है तो उसके कारण क्या हैं?

आनन्द : (कुछ गंभीर होकर) देखो भाई तिवारी जी, वास्तविकता तो यह है कि कलाकार अपने कार्य से कभी संतुष्ट नहीं होता। मैं मानता हूं कि लेखन लेखकों के लिए कोई सायास प्रक्रिया न होकर उनके स्वभाव का अंग होता है। उनमें एक विशिष्ट संवेदनशीलता होती है। इस संवेदनशीलता का सीधा संबंध समकालीन यथार्थ जीवन से होता है। जीवन में व्याप्त विकृति और विद्रूप हमारी संवेदना को झकझोरता है। यही संवेदनशीलता और अनुभूति की तीव्रता हमें अपने सामाजिक ढांचे से अलग करके रचनाकर्म में प्रवृत्त करती है। मैं साहित्य को मात्र आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं मानता, मैं उसे व्यापक स्तर पर जीवन बोध की अभिव्यक्ति का माध्यम मानता हूं। चूंकि जीवन-बोध एक गतिशील प्रक्रिया है इसलिए प्रत्येक रचना की समाप्ति पर मुझे अपूर्णता का बोध होता है। ऐसा लगता है कि कुछ रह गया। दूसरी बात यह है कि मैं जितना चाहता हूं उतना पढ़ नहीं पाता। इसलिए भी कई बार असंतोष होता है। तीसरी बात यह है कि मैं कला को साध्य न मानकर नव-जीवन के निर्माण का साधन मानता हूं। कला और कलाकार के निर्माण की अपेक्षा मेरा ध्यान नये मनुष्य और नयी संवेदना के निर्माण पर अधिक रहता है। मैं अनुभव करता हूं कि यह कार्य बहुत कठिन है। मेरी रचनाएं पाठ्यक्रमों में लगीं; प्रशंसित हुईं, पुरस्कृत हुईं लेकिन अभी तक वह नहीं कर पाईं जिनके लिए ये लिखी गई थीं। साहित्य के माध्यम से विकासशील जीवन की असाध्य-साधना ही मेरी बुनियादी बेचैनी है। □

कहानी

नुक्कड़ की चाट

□ मंजुल भगत

"चलो चाट खा आयें, पापड़ी खाए बहुत दिन हो गए।" अतुल ने सुझाव रखा।

"ऊहूं। यहीं ठीक है, टी० वी० चल ही रहा है। गज़लों का तो तुम्हें खास शौक है? उर्मी ने संतोष से कहा।

"बहुत वोर प्रोग्राम है।"

"चाय बनाऊं? तले हुए काजू के साथ।" उर्मी ने बहलाया।

"ऊंहू। पी तो ली एक बार।"

"सूप भी चढ़ा रखा है, ब्रैडस्टिक के साथ लेंगे।" उर्मी के पास एक यह भी विकल्प था पति को बहला लेने का।

"यह प्रोग्राम···हां···आं ठीक है, कोई ख़ास नहीं है, वैसे तलफ्फुज़ साफ है।" अतुल ने जम्हुआयी को चुटकी से उड़ाते हुए कहा। सोफे पर बैठे-बैठे, टांगें और दूर तक पसार दीं। फिर एक अंगड़ाई भी तोड़ी पर मन कुछ रमा नहीं।

"चलो न गाड़ी ही में तो जाना है, तुम्हें तो उसकी आलू की टिक्की खास पसन्द है।" अतुल ने चुग्गा डाला।

"मोटापा।" उर्मी ने भी कुछ इठलाकर अंगड़ाई ली। उसका गदराया बदन और भी भरा-भरा सा दिखलाई पड़ा।

"वैसे ही। कहां है मुटापा? और एक टिक्की से क्या बिगड़ जाएगा?"

"चलो तो। तुम्हें तो बस धुन-सी लग जाती है। अब साड़ी भी बदलनी पड़ेगी।"

"गाड़ी में बैठे-बैठे ही खा लेना।"

"नहीं। तमाम मुसी-तुसी तो हो रही है। कोई मिल गया तो?"

"अब चाट की दुकान पर कौन ऐसा मिला जा रहा है?"

"क्यों? सामने इतनी बड़ी साड़ियों की दुकान नहीं है, चूनटराम की?"

"ओफ्फोह, अब जो चूनटराम के जाए वह कुछ जरूरी है कि चाट खाने भी आए।" अतुल कुछ झल्ला गया।

"सामने से दिखलाई तो पड़ती है, अब तुम फ़जूल की बहस मत करो।" उर्मी ने मनाने

के अंदाज़ में कहा।

"अच्छा भई, बदल लो।"

"कौन-सी पहनूं?"

"अब कौन-सी पहनूं?"

"हूं। बेकार एक कलफ़ लगी साड़ी की तह खुल जाएगी।"

"हे राम!"

"अच्छा-अच्छा, जाती हूं।"

उर्मी अलकसाती-सी उठी और अल्मारी खोलकर खड़ी हो गयी। कुछ देर कलफ़ लगी साड़ियों पर चाव से हाथ फेरा फिर एक उतार ली। बादामी जमीन पर काही रंग की महीन छींट। बदन पर लपेटी तो मौसम सावनी लगने लगा। उर्मी ने उमगकर गुलदान में से पीला फूल चुन लिया और बालों में टांक लिया।

"इतनी तैयारी टिक्की खाने के लिए?" अतुल ने मीठे हास्य से कहा।

"ओफ़्फोह! तैयारी कहीं जाने की नहीं अपने मिज़ाज की होती है।"

"अच्छा-अच्छा, चलो-चलो।"

"गुट्टू को भी ले लें?" उर्मी ने उत्सुकता से पूछा।

"गुट्टू क्या टिक्की खायेगा?"

"उसकी आया तो खायेगी। और गुट्टू को पीपनी-गुब्बारा ले देंगे। दोनों की मोटर की सैर भी हो जाएगी।" उर्मी ने मोटर में बैठते हुए कहा।

"अच्छा, एक बात बतलाओ। यह गुट्टू को तुम रोज-रोज आया के साथ जो शाम की सैर के लिए भेजती हो तो इसका कुछ फ़ायदा भी है?"

"क्यों? उसे ताजी हवा नहीं चाहिए?"

"लेकिन ताजी हवा के लिए आया उसे ले कहां जाती है? इस शहर में आस-पास कोई ढंग का पार्क भी तो नहीं है? वह उसे लेकर आखिर बैठती कहां है? तुमने तो दे दी दो घण्टे की छुट्टी और पा भी ली। एक बहम-सा तुम्हें रहता है कि ठीक समय पर गुट्टू को सजाकर, ताज़ी हवा खाने भेज दिया गया है।"

"चल तो रहे हैं, अभी देखे लेते हैं, वैसे भी उसका लौटने का वक्त हो ही रहा है।" उर्मी आह्लादित थी। घरेलू आलस्य टूट चुका था। मोटर की गति और बदलते हुए दृश्य ने ऊब भी मिटा दी थी।

"आया दूर नहीं जाती होगी अतुल, क्योंकि गुट्टू अब प्रैम में नहीं बैठता, उछल-उछल कर प्रैम को ही उलट देता है।"

"और गोद में टांगे-टांगे आखिर आया कहां तक जा सकती है?" अतुल ने इधर-उधर नजर दौड़ाते हुए कहा। ज़्यादा दूर नहीं जाना पड़ा। चौराहा पार करके दायीं सड़क पर आया बच्चे को लेकर फ़ुटपाथ पर पसरी थी।

"वह देख, मोटर जाती, जाती न?" आया बच्चे को बहला रही थी।

"पम-पम।" हाथ नचाकर बच्चा बोला फिर मुंह लटकाकर अपने में गुम हो गया।

आया चने मुरमुरे चुभला रही थी। बीच-बीच में, एक आध मुरमुरा गुट्टू के मुख में दे देती।

"वह देख, एक और मोटर···अरे यह तो अपनी ही है।"

"मम्मा···पापा···मम।"

इस बार बच्चा एकदम सजीव हो, ललक उठा।

"आ जाओ···गुट्टू बाबा !"

मां-बाप ने समवेत स्वर में पुचकारा। बच्चा आगे की सीट पर मां की ओर ललका, पर आया उसे लेकर पिछली सीट पर बैठ गई।

"वह देखो बाबा, वह सड़क पर कौन जाता ? ऊंट।" सचमुच दृश्य में कहीं से एक ऊंट आकर बिंध गया था। सड़क की एकरसता दूर हो गई थी। गुट्टू गाड़ी के पिछले कांच पर हाथ मार-मारकर, दूर होते ऊंट को देखकर मौज में आ रहा था। उर्मी पति से मतलब-बेमतलब छिटपुट बातें करती जा रही थी। गुट्टू की ओर ध्यान दिया तो एकदम से गोद में आकर लद जाएगा। तमाम साड़ी मुसड़ जाएगी। फिर आया की तनखा बांध रखने का फ़ायदा ही क्या हुआ ? उर्मी ने सोचा और उमड़ते मन को बांधे रही। मोटर चौक पर आकर रुक गई। चिर-परिचित नुक्कड़ पर चाट का ठेला सजा था। गोलगप्पों का नाजुक अंबार, पापड़ियों की सुनहरी पहाड़ी, उबले आलुओं की गूंथ, सब कुछ वैसा ही था। पर तड़कते तवे के पीछे का चाटवाला बदल गया था। कुछ अजीब-सा लग रहा था, देखकर, मुच्छल, रौबीले चाटवाले के बदले एक निरीह-सा प्राणी।

"वह कहां गया, अतुल ?" उर्मी ने पति से ऐसे पूछा जैसे अतुल को हर चीज़ की समूची जानकारी अवश्य होनी ही चाहिए।

"गांव गया होगा। यह वाला उसका भाई-बन्धु होगा।" अतुल ने उत्तर बनाया।

"वो देख पीपनी वाला, मेमसाब देओ तो एक अठयानी।"

चाट देखकर मुख में घिरते आते पानी को पीछे धकेलकर आया ने कहा। अठन्नी लेकर वह बच्चे समेत पीपनी वाले के समीप खिसक गयी।

"देना तो जरा एक पत्ता पापड़ी का, दही-सोंठ अच्छा डालना और मिर्च बिल्कुल नहीं।" अतुल ने कहा।

उर्मी ने साड़ी की पटलियों को चुटकी में लेकर कहा, "हमें तो एक टिक्कियों की जोड़ी ही लगा दो।"

"क्यों, गोलगप्पे नहीं खाओगी ?" अतुल ने पूछा।

"ऊंहू, रहने दो, सारा पानी साड़ी पर खिडता फिरेगा।"

"सेंकना भई इनकी टिक्की, ज़रा करारी कर देना।" अतुल ने ताक़ीद की। चाटवाले के आसपास का जमावड़ा बढ़ता ही जा रहा था। नुक्कड़ की चाट का बड़ा नाम था। चूनटराम की दुकान के खरीदार भी एक आध पत्ता चाट ही लेते, चाहे मोटर में बैठे-बैठे ही क्यों न हो। मेमसाहब की शाम, शाम-सी हो जाती। एक-आध साड़ी खरीदी, पत्तल चाटी, मैचिंग ब्लाउज़ के फेर में ज़रा इधर-उधर हो लिये। बस कुछ खोजने और पा जाने का आनन्द मिल गया।

"उस्ताद, बड़ी सुस्ती से हाथ चला रहे हो ? ऐसे तो बन चुकी सबकी पत्तलें।" अतुल ने भाईचारे के अन्दाज में टोका।

"क्यों लाला ? आज रोटी ना खाई दीखे। हाथ चल ही ना रहा हैगा।" मोटी तोंद वाले ग्राहक ने टोका। चाटवाला और भी निरीह-सा दीखने लगा। वह घबराहट में उल्टा-सीधा हाथ मारने लगा। सोंठ की जगह मसाले में हाथ जा पड़े तो कभी चाट की धोवन में।

"यह लो, बीबी !" चाटवाले ने पत्ता बढ़ाया।

"अरे यह क्या ? टिक्की को अधबीच काट के जरा सेंकता, दोनों हिस्से अच्छी तरह से।" उर्मी ने उखड़कर कहा।

"करारी है, बीबी !" चाटवाले ने किसी और का पापड़ी-भल्ले का पत्ता बनाना शुरू कर दिया था।

"तुम पहले इसको काटो, बीच से, फिर सेंको।" उर्मी ने चिढ़कर कहा। चाटवाले ने घबराकर टिक्की थाम ली और बीच में से आधी काट, दोनों दायरे, तवे पर उल्टाकर सेंकने लगा।

"अरे भाई, गोलगप्पे खिलाओगे भी कि दोना थामे ही खड़े रहें ?"

"अभी लो बाबू।" चाटवाला झटपट करता-सा बोला।

"अरे यार ! इदे कोलों तां भूरेमल दी मच्छी खान टुर पैन्दे अस्सी। ऐंवई एत्थे फंस गये।"

"हां, देखो तो इसकी टिक्की देखकर ही उस बीबी का कलेजा कबाब हो गया।"

"ले लो बाबू, नाराज़ काहे होते हो ?" चाटवाला रुआंसा हो आया।

"ये लो बीबी, अब के से कड़क-करारी कर दई तुम्हारी टिक्की।"

"ओफ़्फ़ोह। वह तो बुरकाया नहीं ?" उर्मी ने पत्तल हाथ में लेकर मुंह बनाया।

"अब अऊर का बीबी ?"

"वही आलू का लच्छा। पहले वाला बुरकाया करता था। एकदम करारा-सा लच्छा।"

"अब बीबी हम तो बना के लाये नहीं वह सब।" चाटवाले ने अधीरता से कहा।

"अब खा भी चुको। कल फिर खा लेना, लच्छा बुरका के।" अतुल ने आजिजी से कहा।

"पता नहीं; कल भी आयेगा कि नहीं ? बस शतरंज की बिसात-सा उठ गया यहां से ? इससे तो घर बैठे भले थे। जरा-सा बोर ही तो हो रहे थे।"

"अरे वह गया कहां ? क्यों भाई ?" अतुल ने पूछा तो वह निरीह चाटवाला गुमसुम ही रहा।

"अरे इसकी तो पापड़ी भी वाहियात है।" किसी ने कहा।

"हां···हां। वह चटखारा नहीं गोलगप्पों के पानी में भी। बस गुज़ारे वाली बात है।"

"अरे उसके पास तो चटखारे के साथ चाशनी भी रहती थी। रसगुल्ले नहीं रखता था बर्फ में लगा के ?" झोला लटकाए एक पत्रकार बोला।

"वाह, क्या बात है ? चाट और मिठाई की दुकान अगल-बगल हो तो एक का नाम रखो 'चटखारा' और दूसरी का 'चाशनी'। देखो क्या चढ़ता है लोगों की जुबान पर। पत्रकार के लेखक मित्र ने कल्पना और रसना का रस लेते हुए कहा।

"तू खोल ले ना दोनों दुकानें। कलम घिसने में क्या रखा है।"

"अरे यार, बस नाम लटका रह जायेगा दुकानों पर; अन्दर माल नदारद होगा।" झोलेवाला हंसने लगा। खड़ी भीड़ छंटने लगी।

"चलो-चलो काफ़ी पियेंगे कहीं बैठकर। यह चाट है कि घास, खोमचा सजाकर बैठ गया।"

"आया; लाओ गुट्टू को मुझे पकड़ा दो और तुम भी खा लो कुछ। टिक्की मत लेना, मार आटे की लोई जैसी है।"

चाटवाला सुनकर वैसे का वैसा बना रहा। मुर्दे पर जैसे सौ मन मिट्टी वैसे ही सवा सौ

मैंने। उर्मी ने गुट्टू को ले लिया। आया ने साड़ी का घेरा समेट टांगों के बीच खोंस लिया और चाट खाने के लिए चुस्ती से खड़ी हो गयी।

"पुचका खिला। मैं भी देखूं ज़रा।"

चाटवाले ने आस्तीन पर आंखें पोंछीं और दोना बनाकर आया को पकड़ा दिया। पुचका देते-देते वह अचानक रो दिया, हुड़क-हुड़ककर बच्चों की तरह।

"आंय ! क्या हो गया तुमको ?" आया ने पूछा।

अतुल बौखला-सा गया। सामने-सामने एक अधेड़ पुरुष रो रहा था। सूरत पर मानो हल चल गया हो, तमाम क्यारियां-सी खुदीं पड़ी थीं। आया, दोना हाथ में लिये, अवाक् उसे देख रही थी।

"अरे क्या हुआ बड़े भाई, पुचका दे न ? ऐसे काहे हुचक रहा है ?" अतुल ने पुचकारा दिया।

"पूरा पचास रुपया दिया रहा उसको।"

चाटवाला आस्तीन पर नाक पोंछकर बोला।

"किसको दिया ? काहे दिया, बोल न ?"

आया की जिज्ञासा एकदम से भड़क उठी।

"वोही, पुरनिया खोमचावाला लिया रहा, हिंया, नुक्कड़ पे बइठाने खातिर। अऊर हमारी पत्तल जो देखो, सो ही थुथुआ रहा है।"

अतुल चुपचाप बीवी-बच्चों के पास सरक गया।

"कै बाल-बच्चे हैं भईया तुमको ?"

"हैं। पूरे हैं। सात हैं। सब बारह से नीचे-नीचे। बड़के तीन इसकूल जाते हैं। सब के सब ससुर, दोनों टैम रोटी मांगते हैं।"

"अरे आज पेट भरके पुचका खिला देना।" आया ने सुझाया।

"अऊर कल ठेला काहे से लादेंगे ? धन्धा क्या घरवाली के पोये टिक्कड़ से होवेगा ?"

दो एक ग्राहक चाटवाले को रोता देख खड़े रह गये थे। वे पत्ता मांगने लगे।

"अरे चलो भई आया, कितना तो मचल रहा है गुट्टू और तुम हो कि अभी तक पुचका खाना ही नहीं हुआ ?"

"लगा भईया, लगा। इनको भी दे और मुझे भी खिला पुचका। धन्धे का वक्त रोना-गाना नईं।" आया ने दम-दिलासा दिया।

"अब हमें इत्ता बढ़िया बनाना-लगाना नहीं आता न। सीख जायेंगे।"

"अरे चलो भई आया।"

मेम साहब गुट्टू को लेकर मोटर में दाखिल थीं। वह मां की गोद में खड़ा-खड़ा मचल रहा था कि मोटर चले या फिर मुझे बाहर निकालो। साहब मोटर का चक्का थामे हार्न टीप रहे थे। आया खाली दोना फेंक जल्दी से मोटर में घुस गयी और गुट्टू को संभालने लगी।

"साब, चाटवाला को मेरा वाला पईसा दिया ?"

"हां, दिया न।"

"पर मैं तो दो दोना ले लिया साब ?"

"अरे ! बोली क्यों नहीं पहले। साहब ने एक रुपये का सिक्का चलती गाड़ी से खोमचे पर फेंका। दो-चार पुचके फोड़कर सिक्का परांत में बैठ गया।

खोमचेवाला सिक्का उठाकर चिल्लाने लगा, "अरे ओ बाबू, बाबू हो, पईसा तो मिल गया रहा, सब का सब ।" पर मोटर जा चुकी थी ।

"अरे रख ले न यार, माल-मताई वाले हैं । उनको काहे का घाटा ?"

मज़दूर-मकैनिक किस्म के दो-चार बचे खुचे ग्राहक चाटवाले से बोलने-बतियाने लगे । और जाते भी कहां सुनने-सुनाने ? चाटवाला भी अब कुछ स्वस्थ हो चला था ।

तभी दो नंग-धड़ंग बच्चे, झूठी पत्तलें सकोरते हुए मज़दूर-मकैनिक की पत्तलों पर नज़र गाड़कर रिरियाने लगे; "जराक-सी, नेक-सी चटा दो बाबू, भूखा हूं ऊं-ऊं ।"

"अरे इधर को आ । परे हट वहां से ।" चाटवाले ने लड़कों से दमदार कड़क में कहा ।

"ऊं ऊं ऊं, नेक-सी, जराक-सी ।" बच्चे अपने पिचके पेट पकड़कर, वेशर्म ढिठाई से रिरियाते रहे । चाटवाले ने उछलकर दोनों बच्चों को बाज़ुओं से धर पकड़ा और अपनी तरफ़ ला खड़ा किया ।

"अबे रिरियाता काहे है ? तुझे चाट खानी है, यों कह ।" दोनों बच्चे मुंह बाये खड़े रहे ।

चाटवाले ने दो पत्तल भरपूर पापड़ी-पकौड़ी के लगाये, उनपर बड़े सुथेरपन से दही-सोंठ फैलाया और मसाला बुरक कर बच्चों को लगा दिया ।

"लो खाओ, पईसा देखो हमारे पास पहले ही आ गया ।"

चाटवाला दान में मिला सिक्का हाथ में ले, हो-हो कर हंसने लगा जैसे एक बोझ उसने उतार फेंका हो ।

बच्चे, हथेलियों में भरपूर दोने थामें अविश्वास से उसे ताकने लगे । कैसा सोना-सलोना भरपूर दोना उनके अपने हाथों में छहल-छहल कर रहा था । दूसरों की राल मिली पत्तल चाटते-चाटते, साफ़ खाने पर दांत गड़ाने की आदत ही नहीं रही थी । पेट में ऐसा अलाव जला रहता कि रस की ओर ध्यान ही न जाता । बस गढ़ा भरने की पड़ी रहती । बच्चे सहमे से खड़े थे । हिम्मत ही नहीं पड़ रही थी, चाट को इधर-उधर करने की ।

"अरे खा ना ! जादा नखरा दिखाया तो मारूंगा ।" चाटवाले ने कहा । बच्चों ने एक-एक पापड़ी गिन-गिनकर मुख में रखनी शुरू की । पापड़ी मुंह के हवाले करने से पूर्व वे उसे भली-भांति निरखते । उन्होंने चाहा कि जिह्वा के इस परमानन्द में देर तक विभोर रह सकें पर दोना चुक गया । वे भरमाये हुए से, होंठों पर जीभ फेरते, जहां के तहां, तस्वीर-से खिंचे रह गये । चाटवाला फिर से हो-हो कर हंसने लगा । उसका जी हल्का हो आया था ।

"और देवें जीरे का पानी ?" उसने मज़दूर-मकैनिक से पूछा । दोनों ने हामी भरी और चरमरे पानी से भरा दोना लिए वहीं पसर कर घूंट भरने लगे ।

"और कहो भईया, कहां-कहां की ख़बर लाये हो ?"

चाटवाले ने उन्हें बतकही के लिए उकसाया । बातचीत चल निकली ।

उस रात, अतुल की नींद कुछ आयी-गयी-सी रही । चाटवाले का रोता चेहरा विघ्न डालता रहा । अगली ही शाम उसने पत्नी के सम्मुख फिर से चाट खाने चलने का प्रस्ताव रखा ।

"चाट ? उसकी ?" पत्नी ने साश्चर्य पूछा ।

"हां । उसी की ।" अतुल ने गम्भीर होकर कहा ।

सबको गाड़ी में लादकर अतुल चौराहे पर जा पहुंचा ।

चाट के ठेले के चारों ओर बड़ी गहमा-गहमी थी ।

लोग पत्तलों पर टूटे पड़ रहे थे।

'चल निकली शायद उस ग़रीब की चाट।'

वह उत्साहित-सा गाड़ी से कूदा। 'आज नालायक का समूचा खोमचा ही ख़रीद डालूंगा।' सब के बीच से राह बनाता वह ठेले तक पहुंचा—वही पुराना मुच्छल चाटवाला लौट आया था। ठेले के पीछे अखाड़े के पहलवान-सा धंसा था। दायें-बायें फुर्ती से पत्तलें बांट रहा था। किसी ग्राहक की मजाल नहीं थी कि ना-नुच कर जाये नहीं तो उसकी बारी ही गारत हो जाती।

"अरे, भाई ! लालाजी ज़रा बतलाना तो, वह कलवाला चाटवाला अब कहां बैठा होगा ?" अतुल ने कठिनाई से पूछा।

"अब हमें क्या मालूम ?" चाटवाले ने लापरवाही से कहा।

"उसने तुमसे यह जगह उधार ली थी न ?"

"हां ली थी। हमारा गोड़-पांव धर के ली थी। पर अब हम उसका पिछाड़ी थोड़ई धरे हैं जो जानें कहां गया होगा ?" चाटवाले ने बात ख़त्म कर दी।

अतुल वापिस गाड़ी की ओर मुड़ गया।

"अरे ! चाट नहीं खाओगे ?" उर्मी भी पीछे-पीछे लौट आयी थी। अतुल ने गाड़ी चला दी। उर्मी लपककर अन्दर दाखिल हो गयी पर अतुल का मिज़ाज देख चुप ही बनी रही।

"अब क्या ? चेतना पर पड़ी इस खरोंच का क्या होगा ?" अतुल सोच रहा था। दायें-बायें नज़र उस निरीह खोमचेवाले को खोजती जाती थी। 'अगर मिल जाता तो, एक बोझ-सा उतर जाता मन पर से।' □

कहानी

बन्द गली

□ दीदारसिंह

हमारी पहली भेंट एक शादी में हुई थी। मैं अपने मित्र की बारात में शामिल होने के लिए जयपुर गया था। बारात उसी शहर में जानी थी। बारात में वह भी शामिल थी। जैसा कि होता है—बाराती भांगड़ा डालते जा रहे थे, मुझे भी नाचने के लिए आगे धकेल दिया गया। मुझे नाचना नहीं आता, लेकिन नाचना तो किसी को भी नहीं आता था। सब यों ही उल्टे-सीधे पांव मार रहे थे। मैं भी उनमें शामिल हो गया और बैंड की धुन पर उछलने लगा। नाचने का अभ्यास न होने के कारण मैं शीघ्र ही थक गया। मेरे मित्र की बहनों ने उसे भी घसीट कर नाचने वालों के बीच धकेल दिया। लेकिन वह तो बहुत अच्छा नाचती थी। मैं उसकी ओर देखता ही रह गया।

फिर तो पूरा रास्ता हम इकट्ठे नाचे—और भी कुछ लड़कियां नाच रही थीं। मेरे साथ कुछ दूसरे लड़के भी नाच में शामिल थे। नाचते-नाचते कई बार हम एक-दूसरे का स्पर्श कर जाते। कई बार उसकी लंबी रेशमी अलकें मेरे गालों को छू जातीं और अलकों की महक मेरे रोम-रोम में फैल जाती।

उसके खुले बाल पीठ पर बिखरे, घने तथा कमर तक लंबे थे। आगे से तराश कर बिल्कुल बराबर किए हुए थे। उसके होंठ पतले तथा आंखें नशीली हिरनी जैसी थीं। उसने राजस्थानी प्रिंट की रेशमी साड़ी बांधी थी। मैं उसे राजस्थानी ही समझा था।

बारात लड़की वालों के द्वार पर पहुंच गई। वहां भीड़ में मिलनी के समय सब लोग सटकर खड़े थे। वह मेरे बिल्कुल आगे खड़ी थी—उसकी पीठ मेरी छाती से लगी थी और उसका सर मेरे मुंह के बिल्कुल आगे। मैंने चाहा उसे कहूं तुम नाचती बहुत अच्छा हो। मैं उससे बात करने का कोई बहाना भी ढूंढ रहा था। लेकिन वहां और भी लड़कियां बिल्कुल पास खड़ी थीं, सबका ध्यान मिलनी की ओर था—मेरी बात तो अनसुनी-सी रह जाती। मैं चुप रहा।

मिलनी के बाद जब बारातियों को बिठाया गया तो मैं बिल्कुल उसके पीछे वाली कुर्सी पर बैठ गया। लेकिन हमारी बात खाना खाने के बाद ही हो सकी थी। खाना खाकर कुछ बाराती वापस चले गये थे। मुझे अपने मित्र के साथ रात वहीं ठहरना था। फेरे तो प्रातः को

होने थे। शामियाने के नीचे एक कोने में वह अपनी सहेलियों के साथ बैठी थी। पास ही कुछ कुर्सियां खाली होने पर मैं उसके पास बैठने में झिझक अनुभव कर रहा था कि कहीं वह यह न समझे कि मैं जानबूझकर लड़कियों के पास बैठा हूं।

लेकिन उसके पास बैठे एक और बाराती ने मुझे अपने पास बैठने को कहा तो मैं बैठ गया। अब मेरे और उसके बीच वह बाराती था। थोड़ी देर बाद वह बाराती किसी और से सम्बोधित हुआ तो मैंने अवसर पाकर उसे कह ही दिया, "आप नाचती बहुत अच्छा हैं।"

"क्या नाचती हूं···ऐसा ही है।" वह लज्जा गई थी।

"बाकी सब से तो···आप अच्छा नाच रही थीं।"

"······"

"आपका नाम ?"

"मनजीत ! वैसे मुझे सभी स्वीटी कह कर बुलाते हैं।"

"मनजीत···तो आप पंजाबी हैं !"

"हां।"

"अरे ! मैं तो आपको राजस्थानी समझा था। फिर तो आपसे पंजाबी में बात कर सकता हूं।"

"हां, क्यों नहीं।"

"आप पढ़ती हैं ?"

"हां।"

"किस श्रेणी में ?"

"बी० ए० फ़ाइनल में।" और उसने पास बैठी अपनी सहेलियों का भी परिचय कराया। उनमें एक उसकी बहन भी थी।

दूसरे दिन बारात वापस आ गई। रात को वहां लड़के वालों की ओर से अतिथियों को भोज दिया गया। दिन में कई बार स्वीटी को देखा और रात्रि के भोज में भी वह साथ ही थी।

अगले दिन जब मुझे वापस आना था तो वह कहीं भी दिखाई न दी। वह वहां पास ही कहीं रहती थी लेकिन न तो मैं किसी से उसके विषय में पूछ सकता था और न ही उसे मिलने जा सकता था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि जाने से पहले वह कहीं दिखाई दे जाए।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

पिछली रात भी मैं सो नहीं सका था। सारी रात स्वीटी के विषय में सोचता रहा था। मुझे ऐसा लगा था जैसे मैं उसे अतीत काल से जानता हूं···जैसे वह कहीं खो गई थी और अब मिली है।

जयपुर से लौटते समय मुझे लगा कि वह एक बार फिर खो गई है और अब कभी नहीं मिलेगी क्योंकि मेरे दोबारा जयपुर आने की कोई संभावना नहीं थी और न ही दूसरे किसी स्थान पर उससे मिलने की आशा थी।

जयपुर से लौटकर स्वीटी की याद को मैंने हृदय की एक परत में ढक दिया और अपने कार्यों में व्यस्त हो गया।

समय बीतता गया।

कोई पांच वर्ष बाद हमारी फिर भेंट हो गई। मैं अपने बीवी-बच्चों के साथ गुलमर्ग

घूमने गया था। वहां किसी कॉलेज की लड़कियों की एक टोली मिली। स्वीटी भी उनके साथ थी। मैंने उसे झट पहचान लिया, लेकिन वह मुझे जल्दी नहीं पहचान सकी। उसने बताया कि एम० ए० करके वह उसी कॉलेज में प्राध्यापिका लग गई है और लड़कियों को लेकर कश्मीर का भ्रमण करने आई है। उसने बताया कि उसका विवाह एक कैप्टन से हुआ है लेकिन वह नौकरी नहीं छोड़ेगी। छुट्टियों में पति के पास चली जाती है या कभी वह छुट्टी लेकर आ जाता है।

अब वह पहले से भी अधिक सुन्दर लग रही थी। चाहे उसमें पांच वर्ष पहले जैसा अल्हड़पन नहीं था। लेकिन उसमें कहीं अधिक प्रौढ़ता तथा सौम्यता द्रष्टव्य थी।

वह मेरी पत्नी के साथ बहुत घुल-मिलकर बातें कर रही थी। लेकिन मैंने अनुभव किया कि मेरे साथ बात करने में झिझक रही थी। इसका कारण मैंने यह समझा कि अब वह एक चंचल लड़की नहीं अपितु एक प्राध्यापिका थी और उसके साथ उसकी छात्राएं थीं जो अपने अध्यापकों की छोटी-छोटी बातों को भी बड़े ध्यान से परखती हैं।

हम लोग गुलमर्ग से खिलनमर्ग की ओर जा रहे थे जबकि स्वीटी की टोली खिलनमर्ग से वापस आ रही थी। इसलिए हमारी यह भेंट कोई दस मिनट से अधिक न खिंच सकी। उसने बताया कि वे श्रीनगर के यूथ होस्टल में ठहरी हैं। लेकिन मेरा वहां जाना या उससे मिलना किसी प्रकार भी जंचता नहीं था।

फिर भी दूसरे दिन मुझसे न रहा गया और मैं वहां चला गया। मालूम हुआ वे लोग पहलगाम गये हैं और उधर से ही वापस जम्मू लौट जाएंगे।

उस रात भी मैं सो नहीं सका था और सारी रात स्वीटी को ध्यान से नहीं निकाल पाया था।

जयपुर से आने पर तथा गुलमर्ग की भेंट के समय भी बातों-बातों में मैंने उसे अपना पता बता दिया था—इस आशा से कि शायद वह मुझे कभी पत्र लिखे।

लेकिन उसने ऐसा नहीं किया।

उसकी याद प्रायः मेरे हृदय में सुलगती रहती थी अतः मैंने ही उसे कॉलेज के पते पर पत्र लिख डाला। पत्र औपचारिक ही था और मैंने लिखा था कि यूथ होस्टल में जाकर उसके न मिलने पर मुझे कितनी मायूसी हुई थी।

उसका उत्तर आया—बड़ा संक्षिप्त और औपचारिक। मैंने त्यौहारों के अवसर पर ग्रीटिंग्ज़ भेजनी शुरू कर दी जिनके उत्तर में ग्रीटिंग्ज़ तो नहीं, हां धन्यवाद अवश्य वह भेजती रही। मेरे पत्रों की संख्या भी बढ़ने लगी और आकार भी। उसकी ओर से पत्र आने बिलकुल बन्द हो गये।

एक बार फिर मैं स्वीटी की ओर से मायूस हो गया और उसे मैंने दूसरी बार हृदय की परतों में ढक लिया।

फिर एक लम्बा अन्तराल···!

इसी बीच मेरा एक बार जयपुर भी जाना हुआ लेकिन स्वीटी से मिलने का साहस नहीं हुआ। इच्छा थी कहीं सड़क पर ही चलते-फिरते उससे भेंट हो जाए, पर नहीं हुई।

फिर एक दिन दिल्ली करोलबाग़ में उससे अचानक भेंट हो गई। मेरा विचार था वह इस बार भी मुझे नहीं पहचानेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। मुझे देखकर स्वयं ही मेरी ओर चली आई।

"आप ?"

"और आप ?" मैंने उसी के प्रश्न तथा विस्मय को दोहराया।

"आप यहां कब आए ?" उसने फिर अपना प्रश्न दोहराया।

"मैं···परसों आया। आप तो···।"

"हां मैं जयपुर में ही हूं—यहां प्रायः आती रहती हूं।"

"मैंने तो सोचा था आप पहचानेंगी ही नहीं।"

"क्यों ? आपका हुलिया तो नहीं बदला जो पहचानती न।"

"आपने पत्र लिखना जो बन्द कर दिया था।"

"ओ···।"

"क्या मुझसे कोई भूल हुई थी ?"

"भूल-वूल तो मैं जानती नहीं, लेकिन आपके पत्र मेरे लिए अच्छी-ख़ासी परेशानी पैदा कर रहे थे। बच्चे ही पूछ बैठते किसका पत्र है। उन्हें ही टालना कठिन हो जाता। और फिर पत्र लिखना क्या ज़रूरी है ?"

"यों सम्पर्क बना रहता है।"

"सम्पर्क !" वह हंस पड़ी। "क्या पत्र न लिखने से सम्पर्क नहीं बना रहता ?"

"बना रह सकता है।" मैं उसकी बात को पूरी तरह समझने के लिए एक-एक शब्द को आत्मसात कर रहा था। आज वह फिर कई वर्षों के बाद मिली थी और पुनः भेंट होने की सम्भावना को लेकर कुछ भी कहना फिलहाल सम्भव न था। इसलिए मैं अधिक से अधिक पल उसके साथ बिताना चाहता था। इस ख्याल से तथा विषय बदलने के लिए मैंने कहा, "आओ कहीं आराम से बैठते हैं। कुछ बातें करेंगे।"

वह बोली, "पहली बात तो यह कि मैं इस समय यहां अकेली नहीं आई, मेरी कुछ सहेलियां भी यहां शॉपिंग कर रही हैं। दूसरी बात यह कि बैठने से क्या होगा ?"

"दो घड़ी मिल बैठना ही क्या कम प्राप्ति है !"

"हां, मिल बैठेंगे, और बाद में उन बातों को याद करके मन और दुखी करेंगे—नहीं, यह मुझे स्वीकार नहीं।"

मैं उसके चेहरे को ध्यान से पढ़ने लगा—उसके मुख से ये शब्द बहुत अच्छे लगे और मैं चाहता था कि वह अपने इन शब्दों को दोहराए ताकि मेरे कानों को अच्छी तरह विश्वास हो जाए।

"देखो", मुझे चुप देखकर वह बोली, "भावुक होना बहुत आसान है, लेकिन भावुकता जीवन के कटु सत्यों को नहीं बदल सकती।"

"कैसे सत्य ?" मैं बौराया-सा बोल रहा था।

उसने मेरे चेहरे को ध्यान से देखा कि उसकी बात की मुझ पर क्या प्रतिक्रिया होगी और बोली—"सत्य यह है कि हम एक बन्द गली में रहते हैं—बन्द गली के अन्तिम छोर पर—जहां आगे न तो कोई और मकान है तथा न ही आगे रास्ता निकलता है, इस बन्द गली में आगे जाने की सोचना व्यर्थ है। हमें इसी में रहना है।"

वास्तव में मेरा ध्यान उसकी बातों की ओर कम तथा उसके चेहरे की ओर अधिक था इसलिए मैंने पूरी तरह ध्यान ही नहीं दिया कि उसने क्या कहा है जबकि वह यह कहकर चली गई—"अच्छा ! मेरी सहेलियां आ रही हैं, अब चलती हूं।"

और मेरे देखते-देखते वह उस भीड़ में अलोप हो गई तथा मैं वहां एक मूर्ति की तरह गड़ा रह गया। □

दो कविताएं

कविता का प्रयोग

☐ नरेश कुमार उदास

मैंने जब भी
स्वयं को असहाय पाया है,
कुछ कहते हुए भी—
न कह जाने की स्थिति,
होने पर।

और वहां···
जहां दिमागों में,
लगी जंग को,
खुरच पाना मुश्किल-
सा लगता है,
किन्तु असम्भव नहीं,
वहां कविता का प्रयोग करता हूं।

सोचता हुआ,
सूरज की यह आग
शब्दों का रूप लेकर
गहन अन्धी कोठरियों में,
थोड़ा सा उजास,
थोड़ी सी चमक,
शीतल हवा का झोंका
ले आयेगी जरूर।

और अन्धी काली कोठरियों,
के रक्षकों को,
पी जायेगी, यह सूरज की आग,
और ··· औऽऽर
अंधेरे बन्द कमरों
की खिड़कियों से,
झांकेंगे चेहरे,
एक नया उल्लास लिये।

लुटता शहर

हर कस्बे पर लगा है पहरा,
और कुछ चेहरे,
उगा रहे हैं क्रांतियों के सूरज,
एकदम ला देना चाहते हैं,
अपना - अपना आकाश।

और हर शहर थरथराता रहता है,
उसकी नब्ज डूब रही है,
दिमाग कुंद हो गया है,
हवायें सहमी-सहमी आती, चली जाती हैं।

और प्रतिदिन अखबार,
खोलते हैं,
आगजनी, बलात्कार, आतंक
और कुर्सियों के पोल,
और हर खिड़की से झांकता चेहरा,
उदास, सहमा, भयभीत सा
टटोलता एक शक्ति पुंज
जो बता सके सच ?
जो किताबों में, इतिहास में
नहीं लिखा गया।

किन्तु होता कुछ और है,
गोलियों की भाषा में,

बतिया रहे हैं लोग,
हर रोज लुटता है एक शहर,
व्यक्तिगत, स्वार्थों की आग में
जलता यह क्षेत्र,
गजब ढा रहा है।

सहसा बनता है एक मानचित्र,
कराहते टूटते लोगों का,
जिनकी जुबान कटी है,
या कटे होने का बहाना बना रहे हैं,
पग होते हुए भी
जो पंगु बने पड़े हैं।

दहशत, आंतक का,
हिस्सा यह भीड़
भेड़ बकरियों की मानिंद
मिमिया—रिरिया रही है। □

रचना और रचनाकार से
सीधे जुड़ाव के लिए
अपनी प्रतिक्रिया को
अपने तक सीमित न रखें

□

'आपकी बात' स्तम्भ का प्रयोग करें

तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी की सन्त-काव्यधारा और डोगरी काव्य

□ जितेन ठाकुर

हिन्दी साहित्य में ज्ञानाश्रयी सन्त-काव्यधारा का स्पष्ट एवं स्वतंत्र स्वरूप कबीर द्वारा संस्थापित होता है। कबीर युग-चिंतक, युग-उन्नायक और भक्त, इन विभिन्न भूमिकाओं में अपने व्यक्तित्व का प्रसार करते हैं। कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण विरोधी तत्वों एवं संस्कारों से हुआ था। अपने युग में प्रचलित मान्यताओं की प्रतिद्वंद्विता स्वीकार करते हुए कबीर ने अपने पथ का निर्माण किया और अपने अनुभूत सत्य पर उन्होंने सदैव विश्वास किया। डोगरी काव्य-धारा पर संत काव्य का प्रभाव लक्षित होता है। अन्य सन्त कवियों की तुलना में कबीर की विचारधारा को डोगरी कवियों ने अधिक ग्रहण किया जिससे 'बहुजन-हिताय' और 'बहुजन-सुखाय' की भावना नैसर्गिक रूप में डोगरी काव्य में समाहित हो उठी। कबीर के व्यक्तित्व के दो प्रधान पक्ष थे। (१) धर्म-सुधारक का रूप एवं (२) शुद्ध भक्त का रूप। इसी के अनुरूप उनके साहित्य के भी दो पक्ष हो गए। डोगरी साहित्य में कबीर के काव्य के दोनों पक्षों को ग्रहण किया गया है।

कबीर के परम आराध्य राम हैं। साधना की परमभूमि पर पहुंच कर कबीर अनुभव करते हैं कि राम की अनुभूति 'महारस' के समान है। यह महारस अमृत-तत्त्व है जिसकी उप-लब्धि गगन-मंडल में ही सम्भव है—

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै, सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीवें॥

स्वामी ब्रह्मानन्द ने सांसारिक तृष्णा को खण्डित करने वाले इस 'महारस' की उपलब्धि का वर्णन डोगरी में करते हुए लिखा है—

मना दे गासा अन्दर दिक्खै मिट्ठा रुक्ख-खजूरे दा।
चढ़ी पजांग हांब नि पुजदी, छौरा लभदा दूरै दा॥

रग-रग इसदी रसें भरोची, उप्पर तृप-तृप चौंदी ऐ।
नां उसगी कोई छेड़ सनोचैं, नां गै नजरी पौंदी ऐ।।
पंज थिहारी, चौकस हरदम, पैह्रेदार खड़ोते न।
चिड़ी नि उत्थे फड़कन दिंदे, कढदे मारी सोटे न।।

कबीर ने अपने चिन्तन की प्रस्तावना के लिए भक्ति का आधार ग्रहण किया है। कबीर के अनेक पदों में इस प्रकार के भाव व्यक्त हैं कि हरि मेरे प्रियतम हैं, मैं उसकी बहुरिया हूं—

हरि मेरा पीव, माई हरि मेरा पीव
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव
हरि मेरा पीव, मैं हरि की बहुरिया
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया
किया स्यंगार मिलन कै ताईं।
काहे न मिलो राजा राम गुसाईं।

विरह निवेदन की यही तीव्रता डोगरी कवि परमानंद अलमस्त के काव्य में भी दृष्टिगत होती है। अलमस्त ने स्वयं को ईश्वर की प्रेमिका मानते हुए लिखा है —

चन्ना तूं ते चन्न ऐं मेरा, अऊं ते तेरी चाननी आं।
तू भावें जान नि जान मिगी, तुक्की ते अऊं जाननी आं।
तूं बन नेईं बन भामें मेरा, अऊं ते बस्स तेरी होई जन्दी।

कबीर ने जीव-विषयक विचार प्रकट करते हुए लिखा है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत कथ्यो गियानी

कबीर का अनुकरण करते हुए 'अलमस्त' लिखते हैं—

बूंदें-बूंदें सर वनदे न, सर बूंदा बिच्च समाया ऐ
किरणें बाले दी किरणें दा, ते ऐन्त कुसै नेईं पाया ऐ
कणें-कणें दे प्हाड़ बनन, प्हाड़े दी लेतर होई जन्दी।

कबीर ने क्रियात्मक और गत्यात्मक जीवनदर्शन की प्रस्तावना की है। ज्ञान-ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा प्रेम की महिमा श्रेष्ठ है। परम तत्त्व प्रेम द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है, अतः कबीर लिखते हैं—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का, पढ़े सु पंडित होइ।।

प्रेम की इसी महिमा से ओतप्रोत डोगरी के कवि गोगाराम 'साथी' लिखते हैं—

असें इक्कै अलफ बथ्हेरा ऐ।
नेईं पोथी भार चकोंदे न।
जड़े बोल मनै गी छंहूदे न
ओ ईंदे बिच्च नि थ्होंदे न।
भाएं पोथी बड्डी मुट्टी ऐ
पर हिरखै बाझा खाली ऐ।

माया के व्यापक प्रसार को कबीर ने अनुभव किया था। माया की व्यापकता एवं मोहक

रूप के प्रति सचेत करते हुए कबीर ने लिखा—

माया महा ठगिनी हम जानि।
निरगुन फांसि लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी ॥

डोगरी कवि स्वामी ब्रह्मानंद ने भी माया को आकर्षक परन्तु विषमय बताते हुए उसके गम्भीर परिणामों के प्रति जगत को सचेत किया है—

ए माया दी चलदी चक्की, बिना घुमाए टुरदी ऐ,
जो जो इसदै गालै पौन्दा, दरड़े बाझ निं छुड़दी ऐ।

× × ×

ए सुख लड्डू जैह्‌र-भरोते, निकल मुलम्मा चांदी ऐ।
चमकें बिच जो भुल्ली जन्दे, रोना गै गल पान्दी ऐ॥

सन्त काव्य का लक्ष्य था सामान्य जनता में सत्य का निरूपण करना, करनी-कथनी के तारतम्य पर बल देना तथा नाम के माधुर्य को जनता तक पहुंचाना। सन्त कवि दूलनदास ने 'नाम से प्रीति लगाने' में ही जीवन की सार्थकता मानते हुए लिखा है —

तू काहे जग में आया, जो पै नाम से प्रीति न लगाया रे,
तृस्ना, काम, सुवाद घनेरे, मन से ही नहिं विसराया रे।

मेहता मथरादास ने भी जीवन की सार्थकता ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति और परोपकार में ही मानी है। आप डुग्गर की जनता को संदेश देते हुए लिखते हैं—

आया जगत पर मूरखा, कैत्त कारण
इत्थें आनियै तुद्द सुआरेआ केह्‌?
दान, धर्म, नेईं भजन परमेसरें दा
कीता पर-उपकार नकारेआ केह्‌?

जीवात्मा इन्द्रियों की वासनाओं और माया के सम्पर्क से प्रभावित हो जाती है जिसके कारण चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है। सन्त बाबा लाल ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

आशा विषय विकार की बांध्या जा संसार।
लख चौरासी फेर में भरमत बारंबार॥

मन की स्थिरता ही विषय-विकार के चक्र से मुक्ति प्रदान करा सकती है। डोगरी कवि स्वामी ब्रह्मानंद ने इसी बात का उल्लेख करते हुए लिखा है—

चंचल मन ए तेरा जेल्ले, निश्चल होइये बेही गेआ,
तां समझेआं अमृत रूप, खजूरा दा रस लेई लेआ।
लक्ख चुरासी चक्कर मुक्कै, आतमजोत समाई गेआ॥

ईश्वर सर्वव्यापी है। परन्तु मनुष्य घट-घट में व्याप्त ईश्वर को अपने अन्तरमन में नहीं ढूंढ़ता, वरन् आडम्बरों में उसे खोजता है। जिस प्रकार कस्तूरी के अस्तित्व का बोध मृग को नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर के अस्तित्व का बोध व्यक्ति को नहीं होता। मनुष्य को अपने अन्तस में ईश्वर को पाने की चेष्टा करने की प्रेरणा देते हुए कबीर ने लिखा—

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढे बन माहिं।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियां देखे नाहिं॥

डोगरी कवि गंभीरचन्द ने भी मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा में स्नान कर ईश्वरोन्मुख

होने की प्रेरणा दी है । वे लिखते हैं—

एन्तरयों नां मैल निस्से
बेरिएं न्हाने सेई
आत्मा तूं नदी जान
एस्से मांह् तू कर अश्नान ।
भोलो तेरू तां कल्याण ।।

सन्त कवियों ने निर्भय होकर धार्मिक तथा सामाजिक विषमताओं पर निर्मम प्रहार किए । हिन्दू-मुस्लिम दोनों की धार्मिक बुराइयों की इन्होंने जी खोलकर आलोचना की । सन्त कवियों ने सद्गुणों का उपदेश दिया और साम्प्रदायिकता के विष को समाप्त करने की चेष्टा की । कबीर ने हिंदुओं को फटकारते हुए व्यंग्य किया है—

पाहन पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजूं पहार ।
ता सैं तो चाकी भली, पीस खाए संसार ।।

इसी प्रकार मुसलमानों को भी प्रताड़ित किया है—

कांकर-पाथर जोरि कैं, मस्जिद लेय बनाय ।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहरा हुआ खुदाय ।।

डोगरी कवियों पर कबीर की समाज-सुधारक, धर्म-सुधारक एवं प्रगतिशील दार्शनिकता का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है । धार्मिक आडम्बरों पर आघात करते हुए डोगरी कवि परमानन्द अलमस्त लिखते हैं —

सुरग निं जान हुन्दा, पित्तल खड़काए दे,
छैने छनकाए दे, जां घड़योल ठनकाए दे ।
चढ़ी उच्चे मिम्मरा पर हाकां देने आलेआ,
करियै करबानियां जगातां देने आलेआ !

साम्प्रदायिक सद्भावना में बाधक धार्मिक मान्यताओं का खंडन करते हुए कवि गोगाराम साथी लिखते हैं—

कोई अल्ला-ईश्वर बक्ख नेईं
छड़ी दिक्खने आली अक्ख नेईं
कदें बुत्तें धूफ धखाऽ करनां
कदें कंधे सीस नुआऽ करनां
कदें लैंह् दे-चढ़दें जा करनां
तू अंदर रखदा तक्क नेईं ।

डोगरी कवि सन्तराम शास्त्री द्वारा भी धार्मिक विषमताओं पर प्रहार किया गया है । आपने रूढ़िवादिता को भेड़चाल बताते हुए लिखा है—

पुट्ठे धर्म, भिड्डा दी चाल
करतूतां डोगरियां !
उज्जड़ी जन्दे घर ते बाह् र
कदें निं छोड़नियां ।

कबीर जगत को चिर-स्थाई नहीं मानते । संसार को क्षण-भंगुर बताते हुए वे लिखते हैं—

रहना नहीं, देश बिराना है।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुलि जाना है।

डोगरी कवि संतराम शास्त्री ने भी संसार की नश्वरता को स्वीकारते हुए लिखा है—

कैसी सेज चिखा दी बनी ऐ, उप्पर मुर्दा सजदा।

सोने बाली सारी दुनिया, नां कोई पिच्छै हटदा।।

ज्ञान-उपलब्धि के साधनों में कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया है। गुरु शब्द के रहस्यों का उद्‌घाटन करता है। कबीर ने गुरु को सूरिवां कहकर सम्मान-भाव व्यक्त किया है—

सत-गुरु साता सूरिबां, सबद जुवाहना एक।

लागत ही मैं मिली गया, पड़्या कलेजे छेक।

जिस प्रकार कबीर के अनुसार सतगुरु 'सबद के अस्त्र' के प्रयोग से अज्ञान की समाप्ति करता है, उसी प्रकार स्वामी ब्रह्मानंद भी गुरु द्वारा ही अन्तरात्मा की शुद्धि मानते हैं--

केई जनमें दी किस्मत जागै

सत-गुरु देन सहारा।

तां ज्ञानै दा साब्वन लगदा

जिगर धनोन्दा सारा।।

हिन्दी की सन्त-काव्यधारा का डोगरी काव्य पर पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। सन्त काव्य में ब्रह्म विषयक विचार की जो सूक्ष्म परिकल्पना निहित है वह डोगरी काव्य में स्पष्ट नहीं हो पायी है। कबीर ऐसे राम की प्रस्तावना करते हैं जो पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है तथा मनवाणी से अगम और अगोचर है। स्थूल नेत्रों से उसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। डोगरी काव्य में निर्गुण-ब्रह्म का ऐसा सूक्ष्म स्वरूप वर्णित नहीं हुआ है।

□

कश्मीर शैव दर्शन में भक्ति का स्थान

□ डॉ० केदारनाथ शर्मा

कश्मीर की भूमि अपनी प्राकृतिक सुषमा के बल पर ही सारे विश्व में ख्यातनामा नहीं है, बल्कि इस भूमि की गोद में जन्मे सरस्वती के उपासकों ने ज्ञान के क्षेत्र में जो श्रीवृद्धि की है, उसके लिए सम्पूर्ण विश्व का मानव-समुदाय इसका ऋणी रहेगा। दर्शन हो या आलोचनाशास्त्र, इतिहास हो या ललितकला—सभी क्षेत्रों में कश्मीर का योगदान अविस्मरणीय है। दूसरे शब्दों में कहें तो अपरा (लौकिक) विद्या के साथ-साथ परा (आध्यात्मिक) विद्या के पादप भी इस प्रदेश में अंकुरित और पल्लवित हुए हैं, जिनके सन्देश-पुष्पों की सुगन्धि से सारा भूमण्डल सुवासित हुआ है। एक ओर जहां काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि महान् कश्मीरी आचार्यों की एक लम्बी परम्परा रही है, वहीं दूसरी ओर वसुगुप्त, कल्लट, सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त आदि शैवाचार्यों ने अपने आध्यात्मिक सन्देश के द्वारा हमें ऐहिक सुख-प्राप्ति के साथ ही साथ पारलौकिक लाभ की ओर भी प्रेरित किया है।

कश्मीर की प्रमुख दार्शनिक मान्यता शिवाद्वैतवाद है। इस मान्यता के अनुसार सम्पूर्ण जगत शिवमय है। अतः जीव भी वस्तुतः शिव ही है। किन्तु वह (जीव) अपने वास्तविक स्वरूप को भुला बैठा है और अपनी देह और मन को ही आत्मा समझने लगा है। कश्मीर शैव दर्शन का सारा उपदेश जीव को अपना वास्तविक स्वरूप समझने में सक्षम बनाने के लिए है। यह दर्शन इस वास्तविक सत्य को उद्‌घाटित करता है कि जीव का वास्तविक स्वरूप शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और इसके साथ ही यह दर्शन उस साधना का भी उपदेश देता है, जिससे जीव का शिव में समावेश हो।

अद्वैत शैव दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति अथवा स्वरूप-साक्षात्कार[1] के लिए कई उपाय प्रचलित हैं। यद्यपि यह दर्शन अन्य उपायों की अपेक्षा त्रिकाचार को सर्वोत्तम उपाय मानता है[2] फिर भी इसके अनुसार साधक शिवत्व की प्राप्ति अथवा स्वरूप-साक्षात्कार के लिए अपनी

१. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।
—तन्त्रालोक

२. वेदाच्छैवं ततो वामं ततः दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥
वही, १.५.४६

योग्यतानुसार किसी भी उपयुक्त साधन को अपना सकता है। इस सन्दर्भ में भट्टनारायण का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'सभी शास्त्र परमेश्वर के ही प्रतिपादक हैं और जिस प्रकार एक वृक्ष की अनन्त शाखाएं होती हैं परन्तु उन पर लगे फलों में कोई अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के शास्त्रों का एक ही उद्देश्य रूप फल परमेश्वर है। सभी शास्त्रों का मूल वेद हैं और वेदों की आत्मा परमेश्वर है।[3] सभी मानवों के चित्त एक-से नहीं होते,[4] अतः सभी के द्वारा एक ही उपाय को अपनाना सम्भव नहीं है। सम्भवतः इसी व्यावहारिक तथ्य को ध्यान में रखकर ही यह दर्शन साधनालम्बन में साधक को स्वतन्त्र छोड़ देता है।

शैवदर्शन में मोक्ष-प्राप्ति के अन्यान्य साधनों में से भक्ति भी एक साधन के रूप में स्वीकृत है। बल्कि यह कहना चाहिए कि यहां अन्य उपायों की अपेक्षा भक्ति को सर्वोत्कृष्ट एवं इतर उपायों को अपने भीतर समाहार करने वाली माना गया है।[1] भट्टनारायण के अनुसार भक्ति माया के आवरणों को नष्ट कर देती है। जब जीव में परमेश्वर की भक्ति का संचार होता है तब उसके फलस्वरूप उसे आत्म-दर्शन की अनुभूति होती है। आत्म-दर्शन की प्राप्ति से माया के आवरण नष्ट हो जाते हैं, समस्त दुःखों तथा क्लेशों से छुटकारा मिलता है। भक्ति जीव के ज्ञान-चक्षु को खोल देती है। यह एक ऐसा विचित्र अञ्जन है, जिससे न केवल जीव के चक्षु निर्मल हो जाते हैं वे ज्ञान-चक्षु भी बन जाते हैं। भक्त-साधक के चर्म-चक्षु को दिव्य दृष्टि मिल जाती है, जिसके फलस्वरूप वह आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर पाने में समर्थ होता है।[2] आचार्य उत्पल देव ने ध्यान, जप आदि आत्म-साक्षात्कार के उपायों को मायीय बताकर भक्ति को सर्वोत्कृष्ट एवं सुगम उपाय स्वीकृत किया है।[3] श्रीराम कण्ठ के अनुसार जहां समाधि साधक को अद्वैत की स्थिति प्राप्त कराने में असमर्थ और असफल रहती है, वहां भक्ति न केवल द्वैत

---

१. शाखा सहस्रविस्तीर्णवेदागममयात्मने।
नमोऽनन्तफलोत्पादकल्पवृक्षाय शम्भवे ॥ —स्तवचिन्तामणि, श्लोक १६; पृ० २५

२. चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने। —तन्त्रालोक, खण्ड ३, पृ० ५५

३. अद्वैत शैव मत में भक्ति आदि को मोक्ष-प्राप्ति का साधन या उपाय कहना मात्र व्यावहारिक है। क्योंकि मोक्ष जीव, जो वस्तुतः शिव ही है, से पृथक् नहीं है अपितु उसके अज्ञान (परिमित ज्ञान) ग्रन्थि का भेदन तथा स्व-शक्ति के प्रकाशन का ही अपर नाम है—
मोक्षस्य नैव किञ्चित धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञान-ग्रन्थि-भिदा स्वशक्त्यभिष्यक्तता मोक्षः ॥ (परमार्थसार, का० ६०)
अतः शिव के शिवत्व की साधना के लिए कोई साधन नहीं होता क्योंकि साधन माया-जगत से सम्बन्धित होते हैं। अतः इनका प्रकाशन शिव के प्रकाश के द्वारा ही होता है। तो ये शिव को कैसे प्रकाशित कर सकते हैं? सूर्य के आलोक से प्रकाशित होने वाले घटादि पदार्थ से भला सूर्य का प्रकाशन कैसे सम्भव है? अतः जो मोक्ष के उपाय कहे गये हैं वे वस्तुतः मल-प्रक्षालन के उपाय हैं। इन्हें ही व्यवहार में मोक्ष का उपाय कह दिया जाता है।

४. स्तवचिन्तामणि, श्लोक ८८, पृ० ९६

५. (क) न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्ति शालिनम् ॥ शिवस्तोत्रावली, १.१

(ख) न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ॥ वही, १.१८

को नष्ट करती है, अपितु सभी पदार्थों में परमात्मा के चैतन्य को भी[4] दिखाती है—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः ॥[1]

भक्ति तमोनाश के लिए दीपशिखा तुल्य है। परमशिव में समावेश-प्राप्ति की अप्रत्याशित उपलब्धि कराने में भक्ति नितान्त समर्थ है। अतः स्वरूप-साक्षात्कार के अभ्यर्थी के लिए भक्तिशाली होना परम सौभाग्य की बात है, क्योंकि किसी भी जीव को भक्तिशाली बनाना अथवा न बनाना, किसी को भक्ति का पात्र बनाना या न बनाना सब परमशिव के नियन्त्रण में है—

पूजकाः शतशः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः।
प्रसाद पात्रमाश्वस्ता द्वित्राः सन्ति न पञ्चषाः ॥[2]

परमशिव के प्रति अनन्य भक्ति भाव का अंकुरित होना उसके अनुग्रह अर्थात् शक्तिपात का द्योतक है। कौन कितनी भक्ति का पात्र बन सकता है, यह सब परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है। वह अपनी इच्छानुसार किसी भी जीव के लिए शक्तिपात की मात्रा निर्धारित करता है। किसी जीव पर शक्तिपात करने से पूर्व परमशिव यह विचार नहीं करता कि इसपर अनुग्रह करूं या न करूं।

परमशिव विषयिणी भक्ति का अधिकारी कोई भी जीव हो सकता है। इसमें किसी भी सम्प्रदाय, धर्म, जाति, आश्रम, वर्ण, लिङ्ग, देश आदि का भेद नहीं है। भट्टनारायण के शब्दों में कहें तो ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त समस्त जीव भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं।[3] जीव में भक्ति की उत्पत्ति के लिए कारणभूत शक्तिपात तीन प्रकार का माना गया है— तीव्र, मध्यम और मन्द। तीव्र शक्तिपात का पात्र वही जीव बनता है, जो अपने पूर्व जन्म के साधु संस्कारों के कारण उच्च आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त होता है। तीव्र शक्तिपात को प्राप्त करने वाले जीव का परिचय हमें इस बात से होता है कि उसे सद्गुरु की प्राप्ति होती है। जिसे सद्गुरु की प्राप्ति होती है, वह अन्ततः सारे सांसारिक प्रपञ्च को अपनी ही लीला समझकर आनन्दित होता है, परन्तु सद्गुरु के उपदेश के बिना जीवात्मा अज्ञान से व्यामोहित होकर स्वयं को संकुचित माया प्रमाता के रूप में जानने लगता है।[5]

इसी प्रकार मध्यम और मन्द शक्तिपात के अधिकारी पूर्व जन्म के संस्कारों की मात्रा में उत्तरोत्तर न्यूनता के क्रम से मध्यम और निम्न श्रेणी के जीव होते हैं। जीवों में शक्तिपात करते समय परमशिव लेशमात्र का भी पक्षपात नहीं करते। चूंकि सब कुछ परमशिव का ही स्वरूप है—सभी जीव वस्तुतः शिवस्वरूप ही हैं। अतः पक्षपात होगा भी तो किससे? पक्षपात तभी हो सकता है जब किसी के प्रति राग और किसी के प्रति द्वेष हो। परमशिव का तो किसी

१. क्षेमराज द्वारा 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में ११वीं कारिका की व्याख्या के प्रसंग में उद्धृत।
२. वही।
३. परात्रिंशिका विवृति (पृ० ८१, पादटिप्पणी १) में उद्धृत।
४. स्तवचिन्तामणि, श्लोक ३८, पृ० ५७
५. इदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा संनिहितं अपि सद्गुरूपदेशं विना न प्रकाशते, इति गुरुसपर्यैव एतत्प्रथार्थं अनुसर्तव्या। यस्य पुनः सद्गुरूपदेशं विना एनत्परिज्ञानं नास्ति तस्य अवच्छादितस्वस्वरूपाभिः निजाभिः शक्तिभिः व्यामोहित्वं भवति।
—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, ११ वृत्तिभाग

के प्रति राग-द्वेष है ही नहीं। यही कारण है कि कश्मीर के भक्त शैवाचार्यों ने संस्कार हेतुक शक्तिपात को भक्ति का कारण और भक्ति को स्वरूप-साक्षात्कार के लिए मूलभूत उपाय माना है। जिसे भक्ति रूपी मूल साधन उपलब्ध हो गया उसके लिए अन्य साधन निष्प्रयोजन हो जाते हैं।[1]

जिस किसी में जीव की अनन्य रति या प्रेम हो उसी को भक्ति कहते हैं। मनुष्य से लेकर कीट पर्यन्त कोई ऐसा प्राणी नहीं जो अपने से अनन्य प्रेम न करता हो—सभी अपने से, अपनी आत्मा से प्रेम करते ही हैं। और आत्मा का यह प्रेम या भक्ति जब भक्त को भगवद् भक्ति के साथ एकाकार के रूप में अनुभूत होती है तो उसे समावेश की प्राप्ति हो जाती है।[2]

साधक जब भक्ति को स्वरूप-साक्षात्कार के उपाय के रूप में ग्रहण करता है और उसमें भक्ति का प्रथम अंकुर फूट पड़ता है तो यह दशा भक्ति की 'अपरावस्था' कहलाती है और जब यही भक्ति पराकाष्ठा को पहुंचती है तो वह भक्ति की 'परावस्था' कहलाती है। भक्ति की यही 'परावस्था' मोक्ष कहलाती है। परावस्था को प्राप्त भक्ति उपाय न रहकर उपेय बन जाती है—स्वरूप-साक्षात्कार का साधन न रहकर साध्य बन जाती है। शैवदार्शनिकों ने इसे ही समावेश-मयी भक्ति का नाम दिया है। शैवी साधना-पद्धति में शैवयोग के चार अंगों—आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय और अनुपाय—का आरम्भ भी भक्ति से होता है और अन्त भी भक्ति में ही निहित है। इस प्रकार शैवी साधना में स्वरूपसाक्षात्कार अथवा समावेश प्राप्ति का मूल भक्ति ही है क्योंकि समावेश रूप लक्ष्य प्राप्ति में जीव प्रमाता का उपक्रम और उपसंहार भक्ति से ही होता है।

ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य

कश्मीरी शैवाचार्यों ने दास्य भक्ति का प्रतिपादन किया है।[3] इससे यह शंका हो सकती है कि ऐसे में द्वैत की स्थिति हो जायेगी, क्योंकि दास्य भक्ति में दास और स्वामी, भक्त और इष्टदेव की स्थिति अनिवार्य है। इस शंका का समाधान यह है कि शैवी साधना में ज्ञान और भक्ति का मञ्जुल सामञ्जस्य है। यहां न तो भक्ति ज्ञानविहीन है और न ज्ञान भक्तिविहीन। जो ज्ञान भक्तिविहीन है वह केवल बौद्धिक स्तर का होता है। अतः भक्तिहीन ज्ञान अज्ञान ही है, क्योंकि वह अभिमान का जनक होता है। इस दर्शन के अनुसार जहां भक्ति है वहां ज्ञान भी है और जहां ज्ञान है वहां भक्ति भी है। 'ज्ञान' और 'भक्ति' परमशिव के 'चिद्' और 'आनन्द' अंश हैं। 'चिद्' और 'आनन्द', 'ज्ञान' और 'भक्ति' की एकाकार में रहने वाली सामञ्जस्य की अवस्था ही परमभाव है। परमभाव में ही द्वैत और अद्वैत एकाकार हो जाते हैं। यही द्वैत और अद्वैत का सामञ्जस्य है, जहां दूसरे के न रहते हुए भी दूसरा रहता है अर्थात् उस की कल्पना की

---

१. व्यतीतगुणयोगस्य मुख्यधेयस्य धूर्जटेः।
नामापि ध्यायतां ध्यानैः किमन्यालम्बनैः फलम्॥
—स्तवचिन्तामणि, श्लोक १६, पृ० २८

२. त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानयञ्जयेज्जनः॥ —शिवस्तोत्रावली, १.७

३. जैसे—यः प्रसादल वईश्वरस्थितो या च भक्तिरिव मामुपेयुषी।
तौ परस्परसमन्वितौ कदा तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः॥ —वही, ८.१

जाती है। यह द्वैत वस्तुतः द्वैत में अद्वैत की अनुभूति है, क्योंकि यहां पर द्वैत का जो मान होता है, वह अज्ञान-जन्य नहीं अपितु ज्ञानजन्य है। द्वैत में अद्वैत की अनुभूति अथवा व्युत्थान में समावेश की प्राप्ति[1] यही तो भक्ति की पराकाष्ठा है। परावस्था को पहुंचा हुआ भक्त वस्तुतः अपनी ही भक्ति में रमा रहता है। उसे आत्म-भक्ति कहें या परमात्म-भक्ति—दोनों का एक ही अर्थ है। क्योंकि उस दशा में भक्त और प्रभु कहने को ही दो होते हैं। वस्तुतः भक्त प्रभु के साथ पूर्ण एकाकार हो जाता है।

वेदान्त की भक्ति एवं अद्वैत शैव दर्शन की भक्ति में मौलिक अन्तर

शंकर अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति को कोई स्थान प्राप्त नहीं है क्योंकि शंकर के मत में भक्ति द्वैतमूलक होती है। अतः ज्ञान के उदित होने पर उसकी स्थिति नहीं रहती। अपने स्थान पर शंकर का यह मत ठीक है, क्योंकि यह भक्ति साधनरूपा एवं अज्ञानमूलक होती है, परन्तु अद्वैत शैव दर्शन की साधना पर आधारित ज्ञान भक्ति नित्य सिद्ध है। जिसे हम मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः नित्यसिद्ध ज्ञानभक्ति का ही आवरण भङ्ग से उत्पन्न, उन्मेषमात्र है। शैव दार्शनिकों ने इसे ही चिदानन्दलाभ कहा है।[2] अद्वैत का ज्ञान होने पर जो भक्ति उदित होती है, वह निर्व्याज अहेतुकी भक्ति ही वास्तविक भक्ति है। ज्ञान होने से पहले द्वैत मोह का कारण बनता है, परन्तु ज्ञान होने पर भी उस द्वैत की कल्पना भक्ति की सिद्धि के लिए की जाती है। यह कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है। इस कल्पित द्वैत और अद्वैत का सामञ्जस्य हो जाने पर वह द्वैत अमृत के समान आनन्ददायक होता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह मधुर मिलन दम्पति के मिलन के समान मधुर होता है।[3]

इस प्रकार कश्मीर शैव दर्शन में स्वरूप-साक्षात्कार के लिए भक्ति मूलभूत साधन है।

□

---

१. लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम्।
सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया॥ —शिवस्तोत्रावली, १.३

२. भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० ५०५

३. द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मयोः॥ —बोधसार (नरहरि) पृ० २००-२०१

ग़ज़ल

□ मुहम्मद यासीन बेग

तितली फूल सबा हो जाऊं
इक मासूम दुआ हो जाऊं,
तू चेहरों में दर्पण जैसा
काश कि मैं तुझ-सा हो जाऊं।
आज हूं मस्त पवन के जैसा
कल क्या जाने क्या हो जाऊं!
पर्वत-पर्वत मौज में झूमूं
बादल का साया हो जाऊं।
वो होंठों से छू ले तो मैं
फूलों-सा महका हो जाऊं।
ऐसा क्यों है तुझसे मिलकर
मैं पहरों तन्हा हो जाऊं। □

कविता

सार्थकता की तलाश

□ प्रभात कुमार त्रिखा

यहां
वहां
और
सब कहीं
भीड़ ही भीड़
चेहरे ही चेहरे
सवाल ही सवाल
क्या सार्थक है—?
मुझे अब
तलाश है
सार्थकता की
क्योंकि
अब
मेरे
पोरों-पोरों में
समा गई है
रिक्तता
निरर्थकता की। □

मृत गली का मातमी जुलूस

□ हरिकृष्ण कौल

कथावर्णन उपन्यास की मजबूरी है। इसी मजबूरी को लक्ष्य करके सुप्रसिद्ध उपन्यासकार ई० एम० फास्टर ने क्षोभ भरे स्वर में कहा था कि काश, इस महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा का माध्यम कुछ और होता ! मगर मजबूरी आखिर मजबूरी है। अप्रिय होते हुए भी उसे निभाना पड़ता है। वास्तव में साहित्यिक विधाओं के रूप-शिल्प के कुछ ऐसे बुनियादी पहलू भी होते हैं जिनकी अवहेलना समर्थ और सतत् प्रयोगशील साहित्यकार भी नहीं कर सकते। कथात्मकता उपन्यास का एक ऐसा ही पहलू, या वह बुनियादी ढांचा है जिसका सहारा लेकर ही उपन्यासकार का अनुभूत सत्य, उसकी विश्वदृष्टि, उसका यथार्थ बोध, उसका सृजनात्मक उन्मेष, उसके द्वारा पहचाने गये जीवन के पैटर्न और रिद्म आदि सभी कुछ पाठक के सामने मूर्तिमान हो उठता है।

अपने नये उपन्यास[1] के आरम्भ में ही श्रीमती चन्द्रकान्ता 'अपनी बात आपके साथ' करती हुए आप से कहती हैं—"किसी गलतफहमी में मत पड़िए। मैं आपको कहानी नहीं सुना रही, जिन्दगी दिखा रही हूं।" लेकिन जब कथानक की खुली खिड़की पर सामंजस्यहीनता के मोटे पर्दे लटक रहे हों तो बाहर का आदमी कमरे के भीतर हंसती-रोती, खेलती-कराहती जिन्दगी को कैसे देख सकता है ? सौभाग्य से इस कमरे में कुछ रोशनदान भी हैं। और यह बाहर का आदमी, अर्थात् उपन्यास का पाठक थोड़ा-बहुत परिश्रम करके, थोड़ा उचककर-उछलकर उपन्यास के भीतर चहकती-चीखती जिन्दगी की झलक पा ही सकता है। एक रोशनदान है रत्नी की कहानी, गली के अन्धेरे से उसकी शिकायत, पति की मृत्यु पर गलीवालों की अमानुषिक उदासीनता देखकर उसकी तीव्र प्रतिक्रिया और विद्रोह, दीवान साहब के साथ उसका सम्बंध उसकी बेटी रूपा और दयाराम मास्टर के बेटे कुन्दन का प्रेम, कुन्दन की आत्महत्या के बाद रूपा की दशा, अबोध अवतारे के प्रति रूपा का आकर्षण इत्यादि। दूसरा रोशनदान है संसारचन्द पुरोहित के सबसे छोटे लड़के अवतारे के छोटी आयु में ही शंका और अनास्था के शिकार

---

१. 'ऐलान गली जिन्दा है' (उपन्यास)/लेखिका चन्द्रकान्ता/प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली/प्रथम संस्करण: १९८४/पृष्ठ संख्या २२०/मूल्य २८ रुपये।

होने, रूपा के साथ सर्म्पक के फलस्वरूप जीवन की अकथनीय सच्चाइयों से अवगत होने, अपने परिवेश से उखड़ने और महानगर की भीड़ में खो जाने की व्यथा-कथा। एक और झरोखा अनवर मियां की कथा है जिसने गली के अन्धेरे को जीवन की वास्तविकता मानकर उसके साथ समझौता किया था और हमेशा हंसता-हंसाता रहता था। परन्तु अपने लड़के का एक हिन्दू लड़की के साथ निकाह जिसे भीतर से तोड़ देता है। इन रोशनदानों-झरोखों के अतिरिक्त कुछ छोटे-बड़े सुराख भी हैं जिनसे झांककर आप उपन्यास के भीतर मचलती जिन्दगी का टुकड़ों में आभास पा सकते हैं। मसलन कमली का कबाइलियों द्वारा अपहरण और सीमा पर तैनात हिन्दुस्तानी जवानों द्वारा उसकी दुर्गत। हां, उपन्यास में ऐसे ही छोटे बड़े वातायन हैं। किन्तु यदि कृति में एक सुगठित, सुनियोजित, गतिशील एवं रोचक कथानक की सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया होता तो लेखिका जिस जिन्दगी को दिखाना चाहती है, उसे पाठक उचित रोशनी और सही संदर्भ में देख सकता।

निश्चय ही उपन्यास में जिस जीवन को रूपायित किया गया है, जिस संसार को रचा गया है वह अपने में अनूठा होते हुए भी वास्तविक ही नहीं, बहुत ही आत्मीय भी लगता है। कश्मीर को लेकर हिन्दी-उर्दू में जाने कितने ही उपन्यास, कितनी ही कहानियां लिखी गयी हैं। मगर कमोबेश उन सभी रचनाओं में स्वर्ग के नज़ारों, झीलों, झरनों, वन, पर्वतों, पहलगाम. गुलमर्ग जैसे पर्यटन-स्थलों, परदेसियों के प्रेम में घुल-घुल कर मरने वाली कश्मीर की कलियों, हांजियों और 'हातो' लोगों को ही पेश किया गया है। ऐसी रचनाओं को पढ़कर लगता है कि कश्मीर इन ग़ैर-कश्मीरी लेखकों के लिए एक परीदेश, इशरतकदा, केलि-कुंज, या दो टूक शब्दों में कहें तो एक रंडीखाना है। मगर चन्द्रकान्ता अपने उपन्यास में हमारा साक्षात्कार स्वर्ग के नजारों से नहीं, स्वर्ग की गलियों के जन-जीवन से कराती है जो अपनी विशिष्टता के बावजूद शेष भारत के जन-जीवन से भिन्न नहीं है। वह हमें श्रीनगर की उन तंग-तारीक गलियों में ले जाती है जहां लोगों ने 'अंगुले पर बंगले' और परस्पर सटे-सिमटे मकान बनाए हैं जिनसे सूरज का गली में झांकना भी दूभर हो गया है। इन गलियों में किसी टूरिस्ट मनोवृत्ति वाले लेखक की दिलचस्पी नहीं हो सकती है। किन्तु चन्द्रकान्ता की बात दूसरी है। इन्हीं गलियों के आस-पास उसका 'पहला रुदन गूंजा था।' अतः इन गलियों का ऋण चुकाए बिना उसका 'मानस मुक्त नहीं होता।' इन गलियों में कश्मीरी पंडितों का माइक्रॉस्कोपिक अल्पसंख्यक समुदाय रहता है। स्वाधीन भारत के इन तीस-चालीस वर्षों में जिनकी संख्या पूरे प्रदेश में एक से सिमट कर लाख चालीस-पचास हजार ही रह गई है। लेखिका ने बड़ी ईमानदारी और आत्मीयता से एक ओर इस समुदाय के अन्तर्विरोधों की, तथा दूसरी ओर उसी समुदाय के सदस्यों की अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विषम परिस्थितियों से जूझने की कहानी, अमर कथाकार स्वर्गीय फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा प्रयुक्त कथा वर्णन के 'ओवर हियरिंग' तथा सतत् बदलते दृष्टि बिन्दु के रूप-शिल्प का अनुसरण करते हुए, बहुत सारे स्थिति खंडों, बीसियों पात्रों, दर्जनों राजनीतिक प्रसंगों तथा अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक वृत्तान्तों के सहारे पेश करने की कोशिश की है। इसमें उसे काफी हद तक सफलता भी मिली है। 'आंचलिक' शैली का प्रयोग करते हुए अपने कथा संसार को जीवन्त बनाने के लिए लेखिका ने कश्मीरी लोकगीतों, बोली-ठोली, रीति-रिवाजों, जन-विश्वासों आदि का भी समय और स्थिति के अनुसार उपयोग किया है। फलतः सब कुछ, सारा माहौल, सभी पात्र परिचित और आत्मीय लगते हैं। (ताड़ने वाले अनेक पात्रों के स्वामी नन्दलाल या नंद मत्तू जैसे मॉडलों को भी पहचान सकते हैं।) और सबसे

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि लेखिका ने गली में जिए जा रहे जीवन और प्रचलित प्रादेशिक मुहावरे में ही भाषा की सम्भावना को खोजने की कोशिश की है जिससे उपन्यास की भाषा कश्मीरी फलों की तरह अपना अलग ही स्वाद देती है।

उपन्यास के अन्त में पगला लम्बोदर प्रसाद काकापुरी अर्थात् भूता अपनी जन्मभूमि से निर्वासन का अभिशाप ढोने वाले अवतारे को लक्ष्य करके एक कश्मीरी कवि (सम्भवतः अब्दुल अहद आज़ाद) की यह प्रसिद्ध पंक्ति गुनगुनाता है—"जिस धरती के जल से कल्हण, ग़नी और सर्फी जैसे विद्वान फले-फूले वही जल हमारे लिए हलाहल विष बनेगा ?" उपन्यास के आमुख में लेखिका यही शेर उद्धृत करके कहती है कि उसके लिए इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ना ज़रूरी था और इसीलिए वह पाठकों को बेढब गली के औसत लोगों के बीच ले जाने पर विवश हुई। पर क्या वह इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ सकी है ? शायद नहीं। असल में प्रश्न ही गलत ढंग से पूछा गया है। समस्या को उसके संदर्भ से काटकर देखा गया है। उपन्यास में प्रस्तुत खंड सत्य अपनी जगह खरा होते हुए भी व्यापक सत्य का पूरी तरह आभास नहीं देता है। हालांकि उपन्यास में ऐसे कुछ सूत्र ज़रूर हैं जिन्हें पकड़ कर, यदि उनके तार्किक आखिरी सिरे का पता लगाकर उन्हें सुलझाने की कोशिश की जाती तो अनेक गांठें और उलझनें अपने आप साफ हो जातीं। क्या कारण है कि अवतारे के मन में ही अपने पैतृक विश्वासों के प्रति शंका और अश्रद्धा उपजती है जबकि उसके साथी महीपसिंह का बेटा वन्तासिंह और अनवर मियां का बेटा करीमा अपने बाप-दादाओं की साम्प्रदायिक लीक पर आंखें मूंद कर चलते हैं ? गली के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच व्याप्त पारम्परिक भाईचारा तो अपनी जगह ठीक है, पर कहीं इस भाईचारे को चुनौती देने वाली धर्मोन्मत्त तथा कट्टरपंथी शक्तियां उभर तो नहीं गयी हैं ? असल में चन्द्रकान्ता को ऐलान गली और उन जीवन मूल्यों से जिनकी प्रतीक यह गली है, इतना मोह है कि वह कोई अशुभ विचार अपने मन में लाना ही नहीं चाहती है। लेखिका के इस दुख को समझना कठिन नहीं है कि समय के थपेड़ों से यह गली बिखर के टूट रही है, मिट रही है। नहीं, मिट नहीं रही है, बल्कि कब की मिट चुकी है। अब तो बस उस गली की लाश है जो हमारे कंधों पर है और जिसे हम पूरे सम्मान के साथ अंत्येष्टि के लिए ले जा रहे हैं। जब हमारे श्रद्धेय किसी महापुरुष की मृत्यु होती है, तो हम पूरी शान-शौक़त के साथ उसका मातमी जुलूस निकालते हैं। वह व्यक्ति नहीं रहा है, इस सत्य को स्वीकारना हमारे लिए असह्य होता है। तब हम मृत व्यक्ति की अर्थी के पीछे-पीछे चलकर ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते हैं कि वह व्यक्ति अमर है। हम उसकी जय-जयकार और ज़िन्दाबाद बोलते हैं। ऐलान गली भी मर-मिट चुकी है। अतः लेखिका चन्द्रकान्ता भावुक होकर चिल्लाती है—

ऐलान गली अमर है। ऐलान गली जिन्दा है !!

□

भारतीय कहानियां : १९८३

□ रामदरश मिश्र

साल भर की चुनी हुई भारतीय कहानियों को एक पुस्तक में एक साथ प्रकाशित करने का कार्य अपने आप में स्तुत्य है। भारतीय ज्ञानपीठ की यह योजना निश्चय ही स्वागत योग्य है। एक साथ भारतीय साहित्य के समूचे समकालीन परिदृश्य से गुजरने का अनुभव मूल्यवान है। इससे हम भिन्न-भिन्न भाषाओं की समकालीन प्रवृत्तियों और उपलब्धियों से तो परिचित होते ही हैं, उनसे मिलकर भारतीय साहित्य का जो समग्र बिंब बनता है उसका भी साक्षात्कार करते हैं। तमाम भाषाओं और उनके लोगों के बीच एक भावात्मक सेतु बनता है जो अन्य माध्यमों से उतना संभव नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक में चौदह भारतीय भाषाओं की अट्ठाईस कहानियां संकलित हैं। प्रत्येक भाषा से दो-दो कहानियां ली गई हैं। ये कहानियां जहां इस मायने में साथ खड़ी हैं कि उनमें समकालीन भारतीय जीवन के विविध आयामों की अभिव्यक्तियां हैं, वहां वे अपनी-अपनी भाषा के मिजाज तथा अपने-अपने परिवेश के विविध रंगों की पहचान भी कराती हैं। यानी एकता में अनेकता और अनेकता में एकता की ध्वनि दिखाई पड़ती है। जहां तक साहित्यिक उपलब्धि का प्रश्न है, सभी कहानियों का स्वर एक-सा नहीं है। हो सकता है, चुनाव में ही कोई गड़बड़ी हो। हो सकता है समीक्षक या पाठक की पहचान में विषमता हो। जो भी हो, मुझे कुछ कहानियों ने कहानी के रूप में बहुत प्रभावित किया। कुछ कहानियों में ज़िन्दगी का प्रभावशाली पहलू उठाया तो गया है किन्तु उसे प्रभावशाली ढंग से रचा नहीं गया है। या तो केन्द्रीय बिन्दु के स्पष्ट न होने के कारण कहानी इधर-उधर फैल गई है या वह अपनी परिणति में काफी अस्पष्ट होकर रह गयी है।

यहां सभी कहानियों की व्याख्या और मूल्यांकन से गुज़रना संभव नहीं है। कुछ कहानियों की चर्चा के माध्यम से इस संकलन में उभरती ज़िन्दगी की सच्चाइयों की ओर संकेत करना चाहूंगा। असमी की कहानी आक्रोश (डॉ० लक्ष्मीकान्त बारा) में पूरण घटवाल पहली बार निरपराध जेल जाता है, दूसरी बार शोषक मालिक का खून करके जेल जाता है। मानवीय प्रेम से भरे इस विद्रोही का आक्रोश बहुत मूल्यवान हो उठा है। उड़िया कहानी 'स्वाधीनता के अन्तिम शहीद' (रवि पट्टनायक) में स्वाधीनता संग्राम का सेनानी गोपी बाबा आज के माहौल में व्याप्त मूल्यहीनता के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ मूल्य के लिए शहीद हो उठता है और जड़ गांव में एक चेतना पैदा हो जाती है। उर्दू की 'जीव जानवर' (सागर सरहदी) में आम आदमी की अभावग्रस्त ज़िन्दगी की तकलीफों को मज़ाकिया ढंग से पेश किया गया है। तकलीफ और ज़िन्दादिली की मिली-जुली तस्वीर एक अलग तरह का प्रभाव पैदा करती है।

कन्नड़ कहानी 'सूर्य का घोड़ा' (यू० आर० अनंतमूर्ति) में वैंकेट के अभावग्रस्त पारिवारिक वातावरण को मूर्त किया गया है। अन्त में सूर्य का घोड़ा देखने में एक आशावाद का संकेत किया गया है। कश्मीरी की 'कीकर का पेड़' (हरि कृष्ण कौल) में नयी पीढ़ी और पुरानी

भारतीय कहानियां १९८३/संपादक : बाल स्वरूप राही,, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ/ पृष्ठ : (डिमाई) ३६४/मूल्य ५० रुपये

पीढ़ी का तनाव व्यक्त है। 'कीकर का पेड़' नये लोगों को छांह का सुख देता है किन्तु वह बुजुर्गों के सुख का अवरोधक है अतः वह कटवा दिया जाता है। गुजराती की 'तीसरी रात्रि' (धीरेन्द्र मेहता) गोद लिये बच्चे को लेकर चलने वाली मां की मानसिकता का मार्मिक चित्रण करती है। 'बंधुआ दलिद्दर' तमिल कहानी है। कहानीकार ना० पार्थसारथी ने राजनीति की ठंडी क्रूरता और उसके शिकार आम आदमी की तकलीफ का प्रभावशाली विधान किया है। तेलुगु की कहानी 'अहिंसा' (दादा हयात) में स्कूल न जाने वाले बच्चों को बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से स्कूल के लिए तैयार किया है। पंजाबी कहानी 'सरदारनी' (बूटासिंह) में सरदारनी तेजसिंह के तेज का चित्रण है। एक ओर लड़की के ससुराल वाले हैं दूसरी ओर मायके वाले। दोनों के बीच एक बछड़ा है। उसे लेकर दोनों पक्ष मर्यादा की लड़ाई लड़ रहे हैं। 'नासूर' (चंदन नेगी) में एक औरत बच्चे जनती रहती है, एक औरत उनसे व्यापार करती है। दोनों का हाथ चलता रहता है। जब औरत बच्चे जनने में असमर्थ हो जाती है तब भिखारी बच्चों में अपने बच्चे खोजती फिरती है। बांग्ला की 'महापुरुष' (सुव्रत सेनगुप्त) में एक महापुरुष के अनुयायी अपने राज-नीतिक लाभ के लिए उसके सिद्धांतों के विरुद्ध उसकी मूर्ति बनवाकर उसकी हत्या कर देते हैं। 'सरसों' (संजीव चट्टोपाध्याय) में रिटायर्ड प्रकाश बाबू की चिड़चिड़ी मानसिकता का सुन्दर चित्रण हुआ है। मराठी की 'नया सूर्योदय' (भारत सामणे) में वनजारों की दुनिया है। इसमें उनके लोभ के टुच्चे रूप को दिखाकर फिर उनकी तेजस्वी अस्मिता का उदय दिखाया गया है। महावश्य (आशा वेग) में एक रसोइए का प्रभावशाली चरित्र चित्रित है। सिंधी की 'एहसास' (ईश्वर चन्दर) में गांव से बंबई आयी एक मध्यवर्गीय औरत के अकेलेपन का विधान हुआ है। मलयालम की 'मन भारी हो गया' (टी पद्मनाथन) में बेटे के साथ अमेरिका जाने के निर्णय का दबाव झेलती मां का अंतर्द्वन्द्व व्यंजित है। हिन्दी कहानी 'संभल के बाबू' (भीष्म साहनी) में मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय पार्टियों के आपसी संबंधों के बदलाव का प्रभावशाली चित्रण है।

अन्य कहानियां भी अपने-अपने ढंग से समकालीन जीवन-सत्यों को मूर्त करती हैं। अन्त में एक बात ज़रूर कहना चाहूंगा कि चयनकर्ता अपनी रचना का चयन करने से बच सके होते तो अच्छा रहता।

□

(शेष पृ० ii से)

* "रामनाथ शास्त्री से बातचीत' पढ़ी। सोचा सबसे पहले आपका ध्यान साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'थ्री डिकेडज' ध्याय 'रिकॉग्नाइजिंग लैंग्वेजिज़' पृष्ठ ६० की ओर दिलाता हूं। इसमें डोगरी भाषा को मान्यता प्रदान करने हेतु ऐसे लिखा है; "इन १९६८ कर्ण सिंह प्रोपोज़्ड दैट् डोगरी बी इन्क्ल्यूडड अमंग दि लैंग्वेजिज़ इन विच दि साहित्य अकादेमी प्रोग्राम वाज़ इम्पिलिमेंटिड···डोगरी वाज़ रिकग्नाइज़्ड बाय दि साहित्य अकादेमी।"

अब यदि आपके कथन को इस प्रकार लिया जाएं कि यह श्री रामनाथ शास्त्री ही थे जिन्होंने डॉ० कर्णसिंह जी को ऐसा करने के लिए उद्यत किया तो दूसरों को छोड़िए स्वयं शास्त्री जी भी ऐसा मानने को तैयार नहीं होंगे।

'बातचीत' भी डोगरी साहित्य, चेतना, प्रवाह तथा विकास से जुड़ी न रहकर काफी हद तक व्यक्तिगत सीमाओं में भटकती दिखी। यहां तक कि एक स्थान पर प्रश्नकर्ता (जाने-अनजाने) मेरे और मेरे लेखन के सम्बन्ध में पूछ बैठता है। स्तब्ध हूं कि इस प्रश्न से पहले चली इतनी लम्बी वार्ता से भी शिवनाथ (वैसे उन पर ऐसा कोई नियंत्रण तो नहीं लगाया जा सकता) यह क्यों समझ नहीं पाए कि शास्त्री जी डोगरी साहित्य से जुड़े अनेक नामों (दिवंगत या जीवित) से पिंड छुड़ा कर निकल रहे हैं। यही नहीं बल्कि पिछले दो-अढाई दशकों में रचे साहित्य की भी सर्वथा उपेक्षा की गई।

अस्तु, जैसा व्यक्तिगत प्रश्न वैसा ही उत्तर और अब इस संदर्भ में मेरी इस प्रतिक्रिया को भी व्यक्तिगत ही मानना चाहिए। मुझे इसी अंक के अंतिम पृष्ठ पर श्री रामदरश मिश्र द्वारा लिखा गया वाक्य ही पर्याप्त लगता है·· "·····(जो उनके दल में फिट नहीं बैठते)···"

—नरसिंहदेव जमवाल
भलवाल, जम्मू।
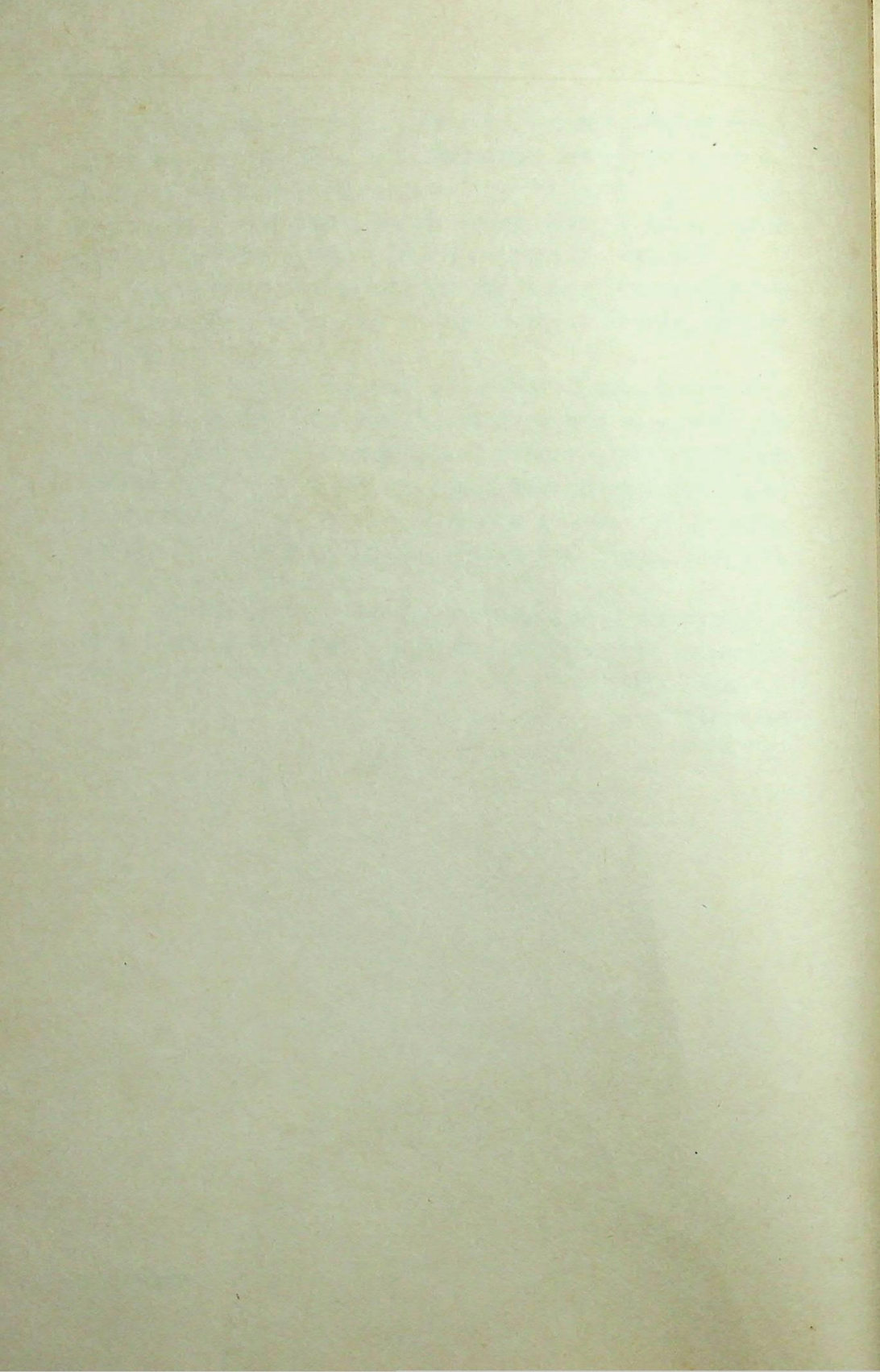
द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

77

वर्ष २१ / अंक ५
(दिसम्बर १९८५-
जनवरी १९८६)

•

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

•

सम्पादक
रमेश मेहता

•

पत्र-व्यवहार

सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू।
फोन : ५०४०

•

मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-३२

•

यह अंक : चार रुपये
वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रम

लेख

कहानी

कविता

साक्षात्कार

स्थायी स्तम्भ

पुस्तकें और पुस्तकें